इकाई - VI : भारतीय समाज में उभरते मुद्दे
[UNIT-VI : EMERGING TRENDS IN INDIAN SOCIETY]

मानव समाज के इतिहास को अगर गहराई से देखा जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह विविध प्रकार की समस्याओं एवं चुनौतियों का ही इतिहास रहा है। प्रत्येक सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित, विकसित-विकासशील समाज में कुछ न कुछ सामाजिक समस्याएँ सदैव विद्यमान रही हैं और आज भी हैं तथा इन्हीं समस्याओं को सामाजिक विघटन का प्रमुख कारण माना जाता है। किसी भी समाज में स्थायित्व एवं निरन्तरता हेतु इन समस्याओं का समाधान किया जाना आवश्यक माना जाता है। भारत में अनेक प्रकार की समस्याएँ विद्यमान हैं जिनके समाधान हेतु सतत प्रयास किए जा रहे हैं। प्रस्तुत इकाई में प्रमुख समस्याओं को समझाने का प्रयास किया गया है।

निर्धनता
(POVERTY)

निर्धनता को सभी समाजों में एक प्रमुख सामाजिक समस्या माना जाता है। यह दोनों विकसित एवं विकासशील देशों में अत्यधिक चिन्ता का विषय बनी हुई है। भारत की समस्याओं में निर्धनता सबसे गम्भीर समस्या है। इससे सामाजिक निराशा जन्म लेती है तथा समाज में प्राय: उथल-पुथल का खतरा पैदा हो सकता है। इसलिए 'गरीबी हटाओ' आज सरकार का प्रमुख उद्देश्य बन गया है। भारत के करोड़ों लोगों के पास खाने के लिए रोटी, पहनने के लिए वस्त्र तथा रहने के लिए मकान नहीं हैं। निर्धन लोगों का जीवन स्तर अति निम्न है तथा वे न्यूनतम जीवन-निर्वाह स्तर से भी नीचे रह रहे हैं। इस अध्याय में निर्धनता तथा जाति एवं लिंग की असमता को समझाने का प्रयास किया गया है।

निर्धनता का अर्थ

धन के अभाव को हम मोटे शब्दों में निर्धनता, दरिद्रता या गरीबी कह सकते हैं। इसका अभिप्राय प्राय: उस स्थिति से है जिसमें कोई व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने में अक्षम रहता है। यह एक सापेक्षिक अवधारणा है। इसका प्रयोग तुलनात्मक दृष्टि से किया जाता है। 'न्यूनतम आवश्यकताओं' का पैमाना देश, काल एवं समाज की दृष्टि पर निर्भर करता है। जो व्यक्ति अपनी और अपने आश्रितों की न्यूनतम आवश्यकताएँ (भोजन, वस्त्र एवं आवास) पूरी करने तथा उनका भली-भाँति पालन-पोषण करने में असमर्थ है उसे हम निर्धन कह सकते हैं। विश्व बैंक (World Bank) निर्धनता को 1·25 अमेरिकी डॉलर प्रतिदिन (लगभग 63 रुपये रोजाना) से कम पर जीवनयापन के रूप में परिभाषित करता है।

भारत में निर्धनों की पहचान के लिए योजना आयोग द्वारा जो पैमाना निर्धारित किया गया है, वह भोजन में उपलब्ध कैलोरियों की मात्रा पर आधारित है। इसके अनुसार भारत में सरकारी तौर पर निर्धन उसे माना जाता है जो शहरी क्षेत्रों में कम-से-कम 2100 कैलोरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में कम-से-कम 2400 कैलोरी खुराक अपने दैनिक जीवन में जुटाने में असमर्थ है। जो व्यक्ति इतनी कैलोरी का भोजन अपने परिवार के लिए जुटाने में सफल नहीं होता वह निर्धन कहा जाता है। यह विवादित है कि इतनी कैलोरी का भोजन जुटाने हेतु कितने पैसे की आवश्यकता होती है। पहले इसके लिए नगरों में 32 रुपयों तक तथा गाँवों में 26 रुपयों को पर्याप्त माना जाता था, परन्तु 2009-10 ई० में इसे घटाकर नगरीय क्षेत्रों के लिए 28·65 रुपये एवं ग्रामीण क्षेत्रों के लिए इसे 22·43 रुपये तथा 2011-12 ई० में इसे नगरीय क्षेत्रों के लिए 33 रुपये तथा ग्रामीण क्षेत्रों के लिए इसे 27 रुपये कर दिया गया है। इससे कम कमाने वाले व्यक्ति को निर्धन माना जाता है।

निर्धनता की परिभाषाएँ

प्रमुख विद्वानों ने निर्धनता को निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया है—

(1) गिलिन गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार—"निर्धनता वह दशा है जिसमें कोई व्यक्ति कम आय अथवा बुद्धिहीन खर्चे के कारण अपने जीवन-स्तर को अपनी शारीरिक तथा मानसिक कुशलता के योग्य रखने में असमर्थ रहता है तथा वह अपने स्वाभाविक आश्रितों को अपने समाज के स्तर के अनुकूल, जिसका कि वह सदस्य है, रखने में असमर्थ है।"

(2) वीवर (Weaver) के अनुसार—"निर्धनता एक ऐसे जीवन-स्तर के रूप में परिभाषित की जा सकती है जिसमें स्वास्थ्य और शरीर सम्बन्धी दक्षता नहीं बनी रहती है।"

(3) गोडार्ड (Goddard) के अनुसार—"निर्धनता उन वस्तुओं का अभाव या अपर्याप्त पूर्ति है जो कि एक व्यक्ति तथा उसके आश्रितों को स्वस्थ बनाए रखने के लिए आवश्यक है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि निर्धनता व्यक्ति की वह स्थिति है जिसमें वह अपनी और अपने स्वाभाविक आश्रितों की जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं को भली-भाँति पूरा करने में असमर्थ है। इसका कारण धन का अभाव अथवा विवेकशून्य (बुद्धिमत्तारहित) व्यय हो सकता है। इसमें व्यक्तियों या समूहों के रहन-सहन का स्तर इतना नीचा हो सकता है कि उसके स्वास्थ्य, मनोबल और आत्मसम्मान को क्षति पहुँचने की नौबत आ जाती है।

भारत में निर्धनता का निर्धारण एवं परिमाण

निर्धनता भारत की एक प्रमुख समस्या मानी जाती है। भारत में निर्धनता के जहाँ एक ओर अनेक कारण हैं वहीं दूसरी ओर यह स्वयं अनेक अन्य समस्याओं का कारण भी है। यद्यपि यह समस्या स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले भी भारत में व्यापक रूप में विद्यमान थी, तथापि इसके माप तथा समाधान के लिए सरकारी प्रयास स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् ही प्रारम्भ हुए। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि 1999-2000 ई० को भारत में निर्धनों की संख्या 260·3 मिलियन थी अर्थात् देश की जनसंख्या में 26·1 प्रतिशत व्यक्ति निर्धन थे। यह अनुपात ग्रामीण क्षेत्रों के लिए 27·1 तथा नगरीय क्षेत्रों के लिए 23·6 था। यद्यपि पिछले कुछ दशकों में निर्धनता की दर में थोड़ी गिरावट आई है, तथापि निर्धनता आज भी भारत की एक प्रमुख समस्या मानी जाती है।

2004-05 ई० को भारत में निर्धनों की संख्या 400·0 मिलियन थी अर्थात् देश की जनसंख्या में 37·2 प्रतिशत व्यक्ति निर्धन थे। 2009-10 ई० को भारत में निर्धनों की संख्या 360·0 मिलियन थी अर्थात् देश की जनसंख्या में 29·8 प्रतिशत व्यक्ति निर्धन थे। निर्धन व्यक्तियों की संख्या में कमी सम्बन्धी आँकड़े थोड़े भ्रामक हो सकते हैं क्योंकि पहले नगरों में 32 रुपये तक तथा गाँवों में 26 रुपये तक प्रतिदिन कमाने वाले को निर्धन माना जाता था, जबकि 2009-10 ई० में इसे घटाकर नगरीय क्षेत्रों के लिए 28·65 रुपये तथा ग्रामीण क्षेत्रों के लिए इसे 22·43 रुपये कर दिया गया। 2011-12 ई०में भारत निर्धनों की संख्या 170·0 मिलियन (29·8 प्रतिशत) थी। निर्धनों की संख्या में कमी के बावजूद उत्तर प्रदेश, असम, मेघालय, मिजोरम, मणिपुर तथा नागालैण्ड ऐसे राज्य हैं जिनमें निर्धनों की संख्या में वृद्धि हुई ह

विश्व बैंक, जो निर्धनता को 1·25 अमेरिकी डॉलर प्रतिदिन (लगभग 63 रुपये रोजाना) से कम पर जीवनयापन के रूप में परिभाषित करता है, द्वारा जारी आँकड़ों से पता चलता है कि 1981 ई० में भारत में 60 प्रतिशत व्यक्ति निर्धन थे जो 2005 ई० में कम होकर केवल 42 प्रतिशत रह गए हैं। यद्यपि यह भारत के लिए एक उल्लेखनीय उपलब्धि है, तथापि चीन निर्धनता कम करने में भारत से कहीं आगे निकल गया है। विश्व बैंक ने भारत में निर्धनता कम होने का प्रमुख कारण हरित क्रान्ति और निरन्तर होने वाली आर्थिक वृद्धि बताया है।

भारत में निर्धनता के निर्धारण का मापदण्ड विश्व बैंक से भिन्न है। योजना आयोग द्वारा यह माना गया है कि प्रत्येक वयस्क पुरुष को अपने शरीर को स्वस्थ रखने हेतु 2,000 से 2,500 के बीच कैलोरी की आवश्यकता होती है। ग्रामीण क्षेत्र में 2,400 कैलोरी तथा नगरीय क्षेत्र हेतु 2,100 कैलोरी को पर्याप्त माना गया है। तत्पश्चात् यह अनुमान लगाया जाता है कि इतनी कैलोरी प्राप्त करने हेतु प्रतिदिन कितने रुपये खर्च करने पड़ते हैं। इतनी कैलोरी प्राप्त करने हेतु ग्रामीण क्षेत्र में व्यक्ति को 26 रुपये तथा नगरीय क्षेत्र में 32 रुपये की आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति इतने रुपये खर्च नहीं कर सकते उन्हें निर्धन माना जाता है। कैलोरी पर आधारित निर्धनता के मापदण्ड को 1970 के दशक में विकसित किया गया था तथा इसके बाद उपभोक्ता मूल्य सूचकांक के आधार पर इसका निर्धारण होता है। इस आधार को मानते हुए भारत में निर्धनता केवल 32 प्रतिशत है न कि विश्व बैंक द्वारा अनुमानित 42 प्रतिशत। तेंदुलकर कमेटी ने 2004 के आँकड़ों को आधार मानते हुए भारत में 37·2 प्रतिशत लोगों को निर्धन माना है।

वास्तव में, बार-बार यह कहा जाता रहा है कि भारत में 70 प्रतिशत जनसंख्या निर्धन है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्डों के अनुसार यहाँ प्रति व्यक्ति व्यय 2 अमेरिकी डॉलर से कम है। यद्यपि भारत सरकार इस आधार को नकारकर तेंदुलकर कमेटी के आधार को स्वीकृति प्रदान करती है, तथापि नासो (राष्ट्रीय निदर्शन

सर्वेक्षण संगठन) द्वारा जारी घरेलू व्यय पर आधारित आँकड़े इसकी पुष्टि करते हैं कि भारत में निर्धनता 60 से 70 प्रतिशत के बीच है।

भारत में निर्धनता के कारण

निर्धनता किसी एक विशेष कारण का परिणाम नहीं है अपितु इसके अनेक कारण हैं। भारत में निर्धनता के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं—

(अ) वैयक्तिक कारण

कई बार मानसिक, शारीरिक व चारित्रिक दोष व्यक्तिगत निर्धनता का कारण बन जाते हैं। निर्धनता के प्रमुख वैयक्तिक कारण निम्न प्रकार हैं—

(1) मानसिक दोष—यदि व्यक्ति का मस्तिष्क रोगग्रस्त है अर्थात् व्यक्ति पागल या बुद्धिहीन है, तो वह किसी कार्य को करने में असमर्थ रहेगा। अत: उसके पास जीविकोपार्जन का कोई साधन नहीं होगा। मानसिक रूप से दोषी व्यक्ति साधनों का सदुपयोग भी नहीं कर सकते हैं। अत: इससे निर्धनता बढ़ती है।

(2) शारीरिक दोष और बीमारियाँ—शारीरिक दोष व बीमारी दोनों दशाएँ भी व्यक्ति को निर्धन बनाने में सहायक सिद्ध होती हैं। यदि कोई व्यक्ति जन्म से अन्धा, लंगड़ा या अन्य किसी शारीरिक दोष से पूर्ण है या किसी दुर्घटनावश उसका शरीर दोषी हो जाता है, तो ऐसी अवस्था में उसे जीविकोपार्जन करने में बड़ी परेशानियों का सामना करना पड़ता है।

(3) आलस्य—जो व्यक्ति आलस्यपूर्ण जीवन बिताते हैं, वह प्राय: निर्धन होते हैं। वे कार्य करना ही नहीं चाहते। भारतीय समाज में इसे भी निर्धनता का एक वैयक्तिक कारण बताया गया है।

(4) मद्यपान—जिस समाज में व्यक्ति अधिक मद्यपान करते हैं, वहाँ भी निर्धनता बढ़ने लगती है। व्यक्ति नशे के लिए अपने तथा अपने परिवार की मौलिक आवश्यकताएँ भी त्याग देते हैं। वे काम पर नहीं जाते तथा उनका स्वास्थ्य गिरने लगता है। उनका व्यक्तिगत एवं पारिवारिक विघटन होने लगता है और इससे निर्धनता बढ़ने लगती है। मृत्यु दर

(ब) भौगोलिक कारण

भौगोलिक कारण भी व्यक्तियों को निर्धन बना देते हैं। ऐसे प्रमुख भौगोलिक कारण इस प्रकार हैं—

(1) प्राकृतिक साधनों में कमी—कुछ स्थानों पर भूमि ऊपजाऊ न होकर ऊसर होती है। वहाँ खनिज पदार्थ भी उपलब्ध नहीं होते। कुछ स्थानों पर कोयले व लोहे के उत्पादन के साधनों की कमी होती है। ऐसे स्थानों पर रहने वाले व्यक्ति प्राय: गरीब होते हैं। उदाहरणार्थ, पहाड़ी प्रदेशों की भूमि कंकरीली व पथरीली होती है, वहाँ की जमीन इस योग्य नहीं होती कि वहाँ पर खेती की जा सके। बड़ी कठिनाई से थोड़ी सी भूमि को समतल बनाकर वहाँ अनाज की पैदावार की जाती है। अत: अन्न की पैदावार बहुत कम होती है। इसलिए वहाँ व्यक्ति काफी गरीब होते हैं।

(2) प्रतिकूल जलवायु और मौसम—जलवायु व मौसम की प्रतिकूलता भी निर्धनता पर गहरा प्रभाव डालती है। उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवों पर जलवायु सदैव ठण्डी रहती है। इसी प्रकर से एस्कीमो प्रदेश व हिमालय पर्वत के शिखरों पर सदैव बर्फ पड़ती है। सम्पूर्ण प्रदेश व पर्वत मालाएँ सफेद रुई के सदृश बर्फ से आच्छादित रहते हैं। राजस्थान भी इसी श्रेणी में आता है, रेगिस्तान होने के कारण खेती नहीं हो पाती और इससे लोगों में निर्धनता बढ़ती है।

(3) हानिकारक कीड़े—गेहूँ, गन्ना, धान इत्यादि फसलों को नष्ट करने वाले बहुत से कीड़े होते हैं। ये सम्पूर्ण फसल में लग कर फसल खराब कर देते हैं। व्यापारियों द्वारा एकत्रित अनाज को भी यह कीड़े नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार, सम्पूर्ण जनता निर्धन बनी रहती है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि हमारे देश की फसलों का 20 प्रतिशत से अधिक कीड़े खा जाते हैं या उसे आंशिक रूप में नष्ट कर देते हैं।

(4) प्राकृतिक विपत्तियाँ—कभी-कभी प्रकृति सम्पूर्ण पैदावार को अपने प्रकोप का भोजन बना लेती है। अचानक ही भूचाल, तूफान, ज्चालामुखी का विस्फोट, सूखा पड़ना या वर्षा का अधिक होना सारे क्षेत्र में खलबली मचा देता है। ये सभी प्राकृतिक विपत्तियाँ पल भर में खेतों, फसलों तथा अन्य एकत्रित पदार्थों का विनाश कर देती हैं। इस प्रकार, प्राकृतिक विपत्तियाँ भी निर्धनता को स्थापित करने में सहायता देती हैं।

(स) आर्थिक कारण

वर्तमान समय में निर्धनता को प्रमुख आर्थिक समस्याओं की देन माना जाता है। निम्न आर्थिक कारणों के फलस्वरूप निर्धनता बढ़ती है—

(1) अपर्याप्त उत्पादन—यदि देश में अपर्याप्त उत्पादन है, तो वहाँ के श्रमिकों को नौकरियों के भी अवसर प्राप्त नहीं होते। राष्ट्रीय आय भी कम रहेगी और प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय भी कम होगी। हमारे देश की बिगड़ती आर्थिक दशा एवं महँगाई अपर्याप्त उत्पादन का अभिशाप है। जब समाज में उत्पादन कम होता है तो चीजों की कमी हो जाती है। इसके फलस्वरूप महँगाई बढ़ने लगती है और धीरे-धीरे अनेक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं जो निर्धनता को बढ़ावा देती हैं।

(2) कृषि का पिछड़ापन—हमारा देश निर्धन देशों की श्रेणी में आता है। यहाँ पर पुराने ढंग से कृषि की जाती है। व्यक्तियों के अशिक्षित होने के कारणवश उन्हें नवीन वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करना नहीं आता। हमारे देश की तीन-चौथाई जनसंख्या कृषि में लगी हुई है। फिर भी कई बार विदेशों से अन्न मँगाना पड़ता है। अमेरिका में केवल सात प्रतिशत जनसंख्या कृषि में लगी हुई है और वे लोग अन्य देशों को अन्न भेजते हैं।

(3) कृषि पर अत्यधिक निर्भरता—हमारे देश में दो-तिहाई जनसंख्या ग्रामों में निवास करती है। ग्रामवासी जीविकोपार्जन के लिए कृषि पर निर्भर हैं। एक परिवार के पास थोड़ी जमीन होती है। ग्रामों में संयुक्त परिवार प्रणाली का प्रचलन होता है। सभी व्यक्ति मिलकर रहते हैं। इस थोड़ी सी जमीन में सभी का पालन-पोषण कठिनता से हो पाता है और कृषि पर निर्भरता के कारण व्यक्ति गरीब रहते हैं। हमारे देश की कृषि पर आधारित जनता में अर्द्ध-बेरोजगारी अधिक पाई जाती है, जो कि निर्धनता को बढ़ावा दे रही है।

(4) उद्योग-धन्धों का अभाव—हमारे देश में उद्योग-धन्धों का समुचित एवं सन्तुलित विकास नहीं हो सका है। अब भी लगभग 15-20 प्रतिशल जनता ही उद्योग-धन्धों के ऊपर अवलम्बित है। उद्योग-धन्धों के अभाव के कारण भी चारों ओर गरीबी का साम्राज्य दृष्टिगत होता है।

(5) धन का असमान वितरण—भारतवर्ष में निर्धनता का एक प्रमुख कारण देश में धन का असमान वितरण भी कहा जा सकता है। देश की अधिकतर सम्पत्ति कुछ हाथों में ही निहित है। इस कारण हमारे देश में पूँजीपति श्रमिक वर्ग का अधिक शोषण करते हैं। इससे राष्ट्र का सम्पूर्ण धन सभी व्यक्तियों में समान वितरित न होकर असमान रूप से वितरित होता है।

(6) आर्थिक मन्दी—आर्थिक मन्दी के फलस्वरूप भी समाज में निर्धनता व्याप्त हो जाती है। पूँजीपति कारखानों में खूब धन लगाकर उत्पादन में वृद्धि कर लेते हैं। ग्राहकों की माँग न होने के कारण माल बहुत कम बिकता है। इस प्रकार से माँग व पूर्ति में असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उत्पादन बढ़ता जाता है, माँग कम होती जाती है। माल की बिक्री के लिए मिल-मालिकों को सस्ते दामों पर विक्रय करना पड़ता है। इससे बाजार में वस्तुओं के दाम गिर जाते हैं। इसलिए मिल-मालिकों को मिल व कारखाने बन्द कर देने पड़ते हैं। इससे कारखानों में काम करने वाले हजारों श्रमिक बेकार हो जाते हैं। इस बेकारी की अवस्था में उनका निर्धन होना स्वाभाविक है।

(द) सामाजिक कारण

भारत में निर्धनता के लिए सामाजिक कारण अधिक उत्तरदायी कहे जा सकते हैं। इसीलिए अनेक लोगों का कहना है कि निर्धनता का मूल कारण समाज में ही विद्यमान है। प्रमुख सामाजिक कारण निम्नांकित हैं—

(1) दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली—हमारे देश में शिक्षा प्रणाली भी बड़ी दूषित है। एक इंजीनियर अपने हाथ से काम करना पसन्द नहीं करता। हमारे देश की व्यावसायिक शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है। हमारे देश में लगभग 500 इण्डस्ट्रियल ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट (आई० टी० आई०) हैं जिनसे प्रशिक्षण प्राप्त लगभग पचास लाख नवयुवक इस समय बेकार हैं। एक हाई स्कूल व्यक्ति भी अपना कार्य न करने के बजाय नौकरी की सोचता है। इन सभी कारणों ने भी निर्धनता को बढ़ावा दिया है।

(2) सामाजिक कुप्रथाएँ—सामाजिक कुप्रथाएँ भी समाज में निर्धनता उत्पन्न करती हैं। भारतवर्ष में अनेक ऐसी कुप्रथाएँ है जैसे, दहेज, बाल विवाह, पर्दा, जाति व्यवस्था आदि। इन्होंने भारतीय समुदाय को अनेक प्रकार से हानियाँ पहुँचाई हैं और निर्धनता बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

(3) धर्म—धर्म भी कभी-कभी समाज पर बुरे प्रभाव डालता है। भारतवासी धर्म के आधार पर ही अन्धविश्वासी बने हुए हैं। कुछ लोग हर बात का सम्बन्ध भाग्य से जोड़ते हैं। अशिक्षित लोग धार्मिक संस्कारों

पर कर्ज लेकर हजारों रुपये व्यय करते हैं। गरीब व्यक्ति गरीबी को भगवान का दिया हुआ अभिशाप मानता है जिसे दूर करना कठिन है। इसलिए वह ज्यादा कठिन प्रयास भी नहीं करता है।

(4) सुंयक्त परिवार प्रणाली—देश में निर्धनता बढ़ाने के लिए संयुक्त परिवार प्रणाली भी उत्तरदायी कही जा सकती है। संयुक्त परिवार प्रणाली व्यक्ति में आलस्य उत्पन्न कर देती है। यह व्यक्ति को घर से बाहर जाने का अवसर प्रदान नहीं करती। इससे बाल विवाह को भी बढ़ावा मिलता है। इन सब कारणों से निर्धनता बढ़ती चली जाती है।

(5) जाति व्यवस्था—जाति व्यवस्था के देश पर अनेक दूषित परिणाम पड़े हैं। निर्धनता इसका प्रमुख परिणाम है। इस व्यवस्था ने सदियों तक व्यक्ति को ऊँचा उठने का अवसर नहीं दिया है। निम्न जातियों में सदस्यों को ऊँचे व्यवसाय चुनने का अवसर परम्परागत रूप से नहीं था। यह प्रणाली सदैव ही व्यक्ति के मार्ग में रोड़ा बनी रही है।

(य) जनसंख्यात्मक कारण

किसी देश की निर्धनता के जनसंख्यात्मक कारण भी बड़े महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। वास्तव में, आधुनिक युग में बेकारी व निर्धनता के लिए जनसंख्या को एक मूल कारण कहा जा सकता है। देश एवं समाज का उत्थान इस बात पर अधिक निर्भर करता है कि वहाँ की जन्म-दर और मृत्यु-दर की क्या मात्रा है। हमारे देश में पिछले वर्षों में जनसंख्या में काफी वृद्धि हुई है। इसका मूल कारण अधिक जन्म-दर है। किसी देश की बढ़ती जनसंख्या के बड़े दूषित परिणाम निकलते हैं। अति जनसंख्या की स्थिति में बेरोजगारी, खाद्य सामग्री की कमी, श्रमिकों की अधिक संख्या आदि हो जाती है। इससे निर्धनता बढ़ने लगती है। हमारे देश की जनंसख्या में जिस तीव्र गति से वृद्धि हो रही है उसी मात्रा में देश का आर्थिक विकास नहीं हो पा रहा है। देश में जितने अधिक रोजगार की व्यवस्था की जाती है उससे अधिक मात्रा में व्यक्ति श्रमिक क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं, फलस्वरूप देश में बेरोजगारी की समस्या निरन्तर बढ़ती जा रही है जो कि निर्धनता को बढ़ावा दे रही है।

निर्धनता के परिणाम

निर्धनता एक अभिशाप है। इसे सभी बुराइयों की जड़ कहा जाता है। अगर व्यक्ति को भर पेट खाना ही न मिले तो वह अनेक प्रकार के अनैतिक कार्य करने लगता है। इसके प्रमुख सामाजिक दुष्परिणाम निम्नलिखित हैं—

(1) अपराध एवं बाल अपराध—निर्धनता अपराध तथा बाल अपराध की संख्या में वृद्धि कर देती है। निर्धनता के कारण व्यक्ति अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं कर पाता है। इस प्रकार, वह कई बार अपराधी व बाल अपराधी बन जाता है। अधिकांश बाल अपराधी भी निर्धन परिवारों से ही आते हैं।

(2) विवाह-विच्छेद—निर्धन लोगों का वैवाहिक जीवन अत्यन्त तनावपूर्ण होता है। कई बार तो विवाह-विच्छेद तक की नौबत आ जाती है। एक तो निर्धनता ऊपर से बेरोजगारी, व्यक्ति को चिड़चिड़ा बना देती है। इससे पारिवारिक विघटन शुरू हो जाता है। पारिवारिक कलह व अशान्ति के कारण कई बार विवाह-विच्छेद हो जाते हैं।

(3) आत्महत्या—निर्धनता आत्महत्या का भी एक कारण है। कई बार निर्धन व्यक्ति इतना निराश हो जाता है कि आत्महत्या तक कर बैठता है। निराशा, अपमान, आवश्यकताओं, की पूर्ति न हो पाना इत्यादि ऐसी मनोवृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं।

(4) भिक्षावृत्ति (Beggary)—निर्धनता भिक्षावृत्ति का भी कारण है। अपने तथा अपनी पत्नी व बच्चों को भूखा मरते देख व्यक्ति भीख माँगने में किसी भी प्रकार की लज्जा महसूस नहीं करता है।

(5) वेश्यावृत्ति—निर्धनता के कारण अनेक स्त्रियाँ अनैतिक व्यापार द्वारा पैसा कमाना शुरू कर देती हैं। वास्तव में, निर्धनता एक ऐसा अभिशाप है जो हजारों लाखों स्त्रियों को इस पतन की ओर ले जाता है।

(6) वैयक्तिक विघटन—निर्धनता के कारण शारीरिक दृष्टि से व्यक्ति टूट जाता है। उसका मानसिक सन्तुलन बिगड़ने लगता है। उसका चारित्रिक पतन भी हो जाता है तथा वह अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों का शिकार हो जाता है।

इस प्रकार, निर्धनता को सभी बुराइयों की जड़ कहा जाना ठीक ही है। इससे वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक विघटन को प्रोत्साहन मिलता है।

भारत में निर्धनता-उन्मूलन के लिए किए गए उपाय

आज भारत में निर्धनता उन्मूलन और रोजगार सृजन सम्बन्धी अनेक कार्यक्रम चलाए जा रहें हैं। इन कार्यक्रमों में प्रमुख इस प्रकार हैं—

(1) स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना—यह योजना 1999 ई० में प्रारम्भ की गई। इसका उद्देश्य लघु उद्यमों को बढ़ावा देना और सहायता-प्राप्त निर्धन परिवारों को सामाजिक पुनर्गठन, उनके प्रशिक्षण और क्षमता निर्माण तथा बैंक ऋण एवं सरकारी सब्सिडी के मिश्रण के माध्यम से आयसर्जक परिसम्पत्तियों के प्रावधान की प्रक्रिया के जरिए उन्हें स्व-सहायता समूहों में संगठित करके गरीबी रेखा से ऊपर लाना है।

(2) सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना—यह योजना सितम्बर, 2001 ई० में शुरू की गई थी। इस योजना का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में खाद्य सुरक्षा, स्थायी सामुदायिक, सामाजिक और आर्थिक परिसम्पत्तियों का सृजन और आधारभूत ढाँचे का विकास करने के साथ-साथ अतिरिक्त मजदूरी मुहैया कराना है।

(3) प्रधानमन्त्री ग्रामोदय योजना—इस योजना की शुरुआत 2000-01 ई० में सभी राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों में की गई थी ताकि ग्राम स्तर पर स्थायी मानव विकास के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। इस योजना के अन्तर्गत चुनिंदा बुनियादी न्यूनतम सेवाओं के लिए राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों को अतिरिक्त केन्द्रीय सहायता प्रदान करने पर विचार किया गया है ताकि सरकार के कतिपय प्राथमिकता वाले क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित किया जा सके।

(4) प्रधानमन्त्री ग्रामोदय योजना (ग्रामीण आवास)—प्रधानमन्त्री ग्रामीण विकास से सम्बन्धित ग्रामोदय योजना 4 अप्रैल, 2000 ई० को शुरू की गई। इस योजना का उद्देश्य ग्राम स्तर पर स्थायी पर्यावास विकास को पूरा करना है। इस योजना के अन्तर्गत इन्दिरा आवास योजना समूचे देश में लागू की गई। इस योजना के अन्तर्गत वित्त मन्त्रालय सीधे राज्य सरकारों को धनराशि जारी करता है।

(5) प्रधानमन्त्री ग्रामोदय योजना (ग्रामीण पेयजल परियोजना)—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत कुल आबंटन का कम-से-कम 25 प्रतिशत भाग सम्बन्धित राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों द्वारा मरुभूमि विकास कार्यक्रम/सूखा सम्भावित क्षेत्र कार्यक्रम के अन्तर्गत ऐसे क्षेत्रों के अन्तर्गत जल संरक्षण, जल प्रबन्धन जल भराई तथा पेयजल संसाधनों को कायम रखने के लिए परियोजनाओं/योजनाओं के सम्बन्ध में उपयोग में लाया जाना है।

(6) अन्त्योदय अन्न योजना—यह योजना प्रधानमन्त्री द्वारा 25 दिसम्बर, 2001 को शुरू की गई थी। इस योजना के तहत लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अन्तर्गत शामिल किए गए गरीबी रेखा से नीचे (बीपीएल) परिवारों में से 1 करोड़ निर्धनतम परिवारों की पहचान की गई है। प्रत्येक पात्र परिवार को 2 कि० ग्रा० गेहूँ और 3 रुपये प्रति कि० ग्रा० चावल के अत्यधिक बड़ी सब्सिडी प्राप्त दर से 25 कि० ग्रा० खाद्यान्न मुहैया कराया गया।

(7) अन्नपूर्णा—यह योजना 100 प्रतिशत केन्द्रीय प्रायोजित योजना के रूप में पहली अप्रैल, 2000 ई० से प्रभावी हुई। इस योजना का उद्देश्य उन वरिष्ठ नागरिकों जो राष्ट्रीय पेंशन स्कीम के अन्तर्गत पेंशन प्राप्त करने पात्र हैं लेकिन जिन्हें पेंशन मिल नहीं रही है, की आवश्यकता को पूरा करने के लिए खाद्य सुरक्षा प्रदान करना है।

(8) इन्दिरा आवास योजना—इन्दिरा आवास योजना का लक्ष्य अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, मुक्त हुए बँधुआ मजदूरों के गरीब परिवारों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले गैर-अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के लोगों को भी मुफ्त आवास मुहैया कराना है।

(9) जय प्रकाश रोजगार गारण्टी योजना—इस योजना का उद्देश्य देश के सर्वाधिक विपदाग्रस्त जिलों में बेरोजगारों को रोजगार गारण्टी प्रदान करना है। इस योजना को शुरू करने के लिए प्रचालन सम्बन्धी तौर-तरीके तय करने की प्रक्रिया चल रही है।

(10) महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी अधिनियम (मगनरेगा)—2006 में संशोधित 20 सूत्री कार्यक्रम में 66 और मदों का भी समावेश किया गया। इन मदों में से 'सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना' को एक अन्य मद 'राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी अधिनियम' में 1 अप्रैल, 2008 से मिला दिया गया। 31 दिसम्बर, 2009 से इसका नाम बदलकर 'महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी अधिनियम' कर दिया गया।

बेरोजगारी
(UNEMPLOYMENT)

बेरोजगारी आज विकासशील भारत में ही नहीं अपितु अमेरिका तथा इंग्लैंड जैसे विकसित देशों में भी चिन्ता का एक गम्भीर विषय बनी हुई है। बेरोजगारी अशिक्षित तथा शिक्षित दोनों वर्गों में पाई जाती है। शिक्षित युवकों में यह समस्या अधिक विचार-विमर्श का विषय बनी हुई है। बेरोजगारी की समस्या वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ पारिवारिक व सामाजिक जीवन को भी प्रभावित करती है। यह अनेक अन्य समस्याओं (यथा आत्महत्या, अपराध, वेश्यावृत्ति आदि) को प्रोत्साहन देती है। इससे समाज की प्रगति में गतिरोध पैदा होते हैं। अनेक प्रकार के आन्दोलन भी इसी के परिणामस्वरूप होते हैं। भारत में बेरोजगारी दर का माप ऐसे व्यक्तियों के श्रम शक्ति में अनुपात से है, जो सक्रिय रूप से रोजगार की तलाश में हैं। 2015 की तुलना में 2016 में भारत में बेरोजगारी दर 3.49 प्रतिशत से कम होकर 3.46 से हो गई।

बेरोजगारी का अर्थ

बेरोजगारी शब्द रोजगार का विपरीत शब्द है। वे सभी व्यक्ति जो किन्हीं कार्यों अथवा व्यवसाय में लगे होते हैं और जिससे उन्हें अर्थ सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं उन्हें रोजगार में लगे हुए व्यक्ति कहते हैं। परन्तु बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं जो स्वस्थ होते हैं कार्य करने की इच्छा भी रखते हैं, परन्तु उन्हें काम नहीं मिलता। ऐसे सभी व्यक्ति बेरोजगार या बेकार कहलाते हैं। बहुत से ऐसे व्यक्ति होते हैं जो स्वस्थ होते हैं, परन्तु कार्य करने की इच्छा नहीं रखते। वे आलस्य में ही पड़े रहना चाहते हैं। ऐसे व्यक्तियों को बेकार नहीं कहा जाता है। अत: साधारण अर्थों में रोजगार का अभाव ही बेरोजगारी है। **फेयरचाइल्ड** (Fairchild) के अनुसार, बेरोजगारी मजदूरी करने वाले सामान्य वर्ग के एक सदस्य का सामान्य समय में सामान्य वेतन पर और सामान्य काम करने वाली दशाओं में, वेतन मिलने वाले काम से अनिच्छापूर्वक या जबरदस्ती अलग कर देना है।

बेरोजगारी की परिभाषाएँ

बेरोजगारी को निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया गया है—

(1) **कार्ल प्रिब्राम** (Karl Pribram) के अनुसार—"बेरोजगारी श्रम बाजार की वह दशा है जिसमें श्रम-शक्ति की पूर्ति उपलब्ध माँगों से अधिक है।"

(2) **डी० मैलो** (D. Mello) के अनुसार बेरोजगार व्यक्ति उसे कहा जाता है—"जो अपनी इच्छा होते हुए भी पारिश्रमिक कार्य करने की स्थिति में नहीं है।"

बेरोजगारी की विभिन्न परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि एक व्यक्ति काम चाहता है, परन्तु उसे काम करने का अवसर नहीं मिलता है, तो वह व्यक्ति बेकार कहलाएगा। बेकार केवल उन्हीं व्यक्तियों को कहा जा सकता है जो इच्छा होते हुए भी कार्य से वंचित रहते हैं।

बेरोजगारी के प्रमुख प्रकार

हमारे देश में बेरोजगारी एक अत्यधिक जटिल समस्या है। इसके अनेक स्वरूप या प्रकार हैं। बेकरी को निम्नलिखित प्रकारों में बाँटा जा सकता है—

(अ) कृषि बेरोजगारी

भारत एक कृषि प्रधान देश है तथा इसकी कुल जनसंख्या की लगभग दो-तिहाई जनसंख्या कृषि पर निर्भर है। कृषि पूरे साल रोजगार नहीं देती। साथ ही, तकनीकी में विकास के कारण मजदूरों का स्थान मशीनें लेती जा रही हैं। इसलिए भारत में कृषि बेकारों की संख्या में भी निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। इसके प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं—

(1) प्रच्छन्न बेरोजगारी—ग्रामीण जनसंख्या का एक-चौथाई अनुपात इस समस्या से पीड़ित है। प्रच्छन्न रूप से बेकार वह व्यक्ति है जो ऊपर से काम पर लगा हुआ दिखाई देता है, परन्तु अगर वह काम न भी करे तो कुल उत्पादन में कोई अन्तर नहीं होता। इसका कारण यह है कि उसका उत्पादन में अपना योगदान शून्य के बराबर है। उदाहरणार्थ—एक परिवार के सभी सदस्य एक खेत पर निर्भर रहते हैं। सभी थोड़ा बहुत काम करते हैं। परन्तु अगर सदस्यों के व्यक्तिगत योग को देखा जाए तो हो सकता है कि कुछ लोगों का योगदान शून्य के बराबर ही हो। अगर एक-दो व्यक्ति कोई दूसरा व्यवसाय अपना लें तो भी कुल उत्पादन में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।

(2) मौसमी बेरोजगारी—कृषि एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें श्रमिकों की आवश्यकता पूरे साल एक जैसी नहीं रहती। फसल के बुआई तथा कटाई के समय अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। अन्य महीनों में कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। इससे मौसमी बेरोजगारी बढ़ती है क्योंकि बुआई-कटाई का मौसम न होने के कारण अधिकतर कृषि-मजदूर बेकार हो जाते हैं।

(3) सामान्य बेरोजगारा—कृषि के यन्त्रीकरण से कृषि श्रमिकों की संख्या में कमी होती जा रही है। इसलिए भूमिहीन व्यक्तियों की संख्या बेकारों में बढ़ती जा रही है। जनसंख्या में वृद्धि तथा कृषि के यन्त्रीकरण से सामान्य बेरोजगारी अधिक हो गई है।

(ब) गैर-कृषि बेरोजगारी

गैर-कृषि बेरोजगारी अधिकतर औद्योगिक केन्द्रों तथा नगरों में पाई जाती है। यह निम्नलिखित प्रकार की है—

(1) चक्रीय बेरोजगारी—उद्योगों के असफल होने पर अथवा किसी उद्योग के ह्रास से उत्पन्न बेरोजगारी चक्रीय बेरोजगारी कहलाती है। उद्योगों में उतार-चढ़ाव के फलस्वरूप यह बेरोजगारी अधिकतर विकसित देशों में पाई जाती है। उद्योगों या व्यापार में असफलता के कारण बन्द हो जाने, मशीनीकरण के कारण, उद्योगों के ह्रास होने से तथा उद्योगों की अवनति के कारण इस प्रकार की बेरोजगारी बढ़ती है। भारत में इस तरह की बेरोजगारी अधिक गम्भीर नहीं है।

(2) स्थायी बेरोजगारा—हमारे देश में औद्योगीकरण तो हो रहा है पर बढ़ती हुई जनसंख्या को सामने रखते हुए औद्योगिक विकास की गति काफी धीमी है। इसके अतिरिक्त, बेकार ग्रामीण जनता भी नौकरी की तलाश में नगरों की तरफ आती जा रही है। औद्योगिक संस्थानों में कम स्थान होने के कारण बहुत से लोग नौकरी से वंचित रहते हैं। इससे स्थायी बेरोजगारी अधिक होती जा रही है।

(3) मौसमी बेरोजगारी—कई उद्योग मौसमी होते हैं जैसे बर्फ के कारखाने। सर्दियों में बर्फ के कारखाने बन्द हो जाते हैं। वर्षा के समय कोयले की खानें प्राय: बन्द हो जाती हैं। इससे जो बेरोजगारी उत्पन्न हो जाती है इसे ही मौसमी बेरोजगारी की संज्ञा दी गई है।

(4) शिक्षित तथा यांत्रिक बेरोजगारी—उच्च शिक्षा के विकास से शिक्षित व्यक्तियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। तकनीकी शिक्षा प्राप्त किए व्यक्तियों (जैसे इंजीनियर) की संख्या भी बढ़ती जा रही है। एक ऐसा शिक्षित वर्ग बनता जा रहा है जो कार्यक्षमता रखता है परन्तु कोई उपयुक्त कार्य नहीं मिल पाता। शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी आज भारत में ही नहीं अपितु अन्य सभी देशों में चिन्ता का प्रमुख विषय बनी हुई है। इसमें हम अर्द्धबेरोजगारी को भी सम्मिलित कर सकते हैं। इस प्रकार की बेरोजगारी में व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुसार कार्य नहीं मिल पाता। उदाहरणार्थ, अगर कोई व्यक्ति उच्च शिक्षा प्राप्त है और उसमें पूरी क्षमता है, मगर परिस्थितिवश वह एक चपरासी की नौकरी कर रहा है तो इसे हम अर्द्धबेरोजगारी कहेंगे।

(5) संरचनात्मक बेरोजगारी—कई उद्योग जो पहले अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं कुछ समय के बाद उनकी महत्ता कम हो जाती है तथा दूसरे उद्योगों की महत्ता अधिक हो जाती है। उदाहरण के लिए, सूती कपड़े के उद्योगों में मन्दी आई है तथा कृत्रिम रेशा उद्योगों का विकास हुआ है। सूती कपड़ा मिल में लगे हुए व्यक्ति जरूरी नहीं हैं कि कृत्रिम रेशा उद्योगों में ले लिए जाएँ क्योंकि इसमें कोई समरूपता नहीं है। इस तरह की बेरोजगारी को संरचनात्मक बेरोजगारी कहते हैं। यह भी भारत में अधिक नहीं है।

भारत में बेरोजगारी के कारण

योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के समय भारत की बेरोजगारी के लिए इन कारणों का अनुमान किया था—(1) जनसंख्या में तीव्रता से वृद्धि, (2) ग्रामीण उद्योगों का नष्ट होना, (3) रोजगार का कृषि क्षेत्र के अलावा अन्य क्षेत्र में अनुपयुक्त विकास, (4) बँटवारे के कारण शरणार्थियों की समस्या, तथा (5) कृषि में पुरानी विधियों का प्रयोग।

भारत में बेरोजगारी के प्रमुख कारण निम्नांकित हैं—

(1) जनसंख्या में तीव्रता से वृद्धि—भारतवर्ष में जन्म दर बहुत अधिक है। यदि उत्पादन के साधनों, उद्योग-धन्धों में जनसंख्या में वृद्धि समान गति से हो, तब ऐसी दशा में बेरोजगारी नहीं फैलती, परन्तु ऐसा नहीं होता। भारत में जनसंख्या की वृद्धि ही बेरोजगारी का प्रमुख कारण है। हमारे देश की जनसंख्या 1921 में 25

करोड़ थी। 1921 ई० के बाद के दशकों में भारतीय जनसंख्या में तीव्र वृद्धि हुई है। सन्तोषजनक बात यह है कि जनसंख्या विस्फोट को रोकने के प्रयास सफल होते हुए दिखाई दे रहे हैं क्योंकि 2001-2011 में दशकीय वृद्धि पिछले दो दशकों में हुई वृद्धि से काफी कम है। जनसंख्या सम्बन्धी आँकड़ों से पता चलता है कि देश में प्रतिदिन 50,000 लोग बढ़ रहे हैं। प्रारम्भिक आँकड़ों के अनुसार देश की वर्तमान जनसंख्या में 62 करोड़ 37 लाख पुरुष और 58 करोड़ 65 लाख महिलाएँ हैं। गत दशक में पुरुषों की 17·19 प्रतिशत की तुलना में महिलाओं की जनसंख्या में 18·12 प्रतिशत की वृद्धि दर की गई है। आँकड़ों के अनुसार विश्व की 17·5 प्रतिशत आबादी भारत में निवास करती है। भारत की कुल जनसंख्या अमेरिका, इण्डोनेशिया, ब्राजील, पाकिस्तान और बांग्लादेश की जनसंख्या के कुल योग से भी अधिक हो गई है।तब इससे बेरोजगारी ही नहीं वरन् इससे अन्न, आवास तथा अनेक समस्याएँ भी उत्पन्न हो जाएंगी।

(2) कुटीर उद्योगों का विनाश—वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ देश में गरीबी और बेरोजगारी बढ़ी है। इसका प्रमुख कारण यह है कि सभी वस्तुएँ मशीनों द्वारा अच्छी व सस्ती (कम दामों पर) तैयार की जाने लगीं हैं। लोग भी मशीनीकृत वस्तुओं को अधिक पसन्द करने लगे हैं। अत: कुटीर उद्योगों का विनाश हो गया है। पहले जो काम दस व्यक्ति करते थे, मशीनों के आविष्कार से एक व्यक्ति उस कार्य को करने के लिए पर्याप्त होने लगा है। भारत में घरेलू उद्योग-धन्धों से ग्रामीण लोगों को बहुत आर्थिक सहायता मिलती थी परन्तु इनके ह्रास के कारण बेरोजगारी बढ़ी है। यह समस्या आज मुँह फाड़कर हमारे समक्ष उपस्थित है।

(3) उद्योगों की सन्तोषजनक उन्नति न होना—भारत में उद्योग-धन्धों में काफी तीव्र गति से उन्नति हो रही है। परन्तु, फिर भी, जनसंख्या की अपेक्षा उद्योग-धन्धों की उन्नति लगभग आधी ही है। इस प्रकार से हम यह कह सकते हैं कि उद्योग-धन्धों की उन्नति सन्तुष्टि प्रदान करने वाली नहीं है। इसके असमान विकास के कारण आधी जनसंख्या बेकार हो जाती है।

(4) पुरातन कृषि व्यवस्था—भारत की अधिकतर जनसंख्या ग्रामों में निवास करती है। ग्रामवासी जीविकोपार्जन के लिए कृषि पर आश्रित होते हैं। यद्यपि भारतवर्ष की जनसंख्या 1901 में 24 करोड़ से बढ़कर सन् 2011 में 121·02 करोड़ (1,21,01,93,422) अधिक हो गई, किन्तु उसी अनुपात में कृषि सम्बन्धी भूमि में वृद्धि नहीं हुई है। अत: हम देखते हैं कि भूमि आकार में तो सीमित है, लेकिन व्यक्तियों की संख्या असीमित होती जा रही है। इस प्रकार से ग्रामों में बेरोजगारी बढ़ रही है। हमारे देश की कृषि भी मौसमी है। कृषक साल में तीन या चार माह तक बेकार रहते हैं। देश की अधिकतर कृषि वर्षा पर आधारित है, यदि वर्षा कम या अधिक हो जाती है, तो कृषक बेकार हो जाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में लघु उद्योग- धन्धे, पशु-पालन आदि का भी अभाव है और कृषक लोग अपने अतिरिक्त समय का ठीक उपयोग नहीं कर पाते हैं। इस प्रकार, कृषि से सम्बन्धित व्यक्ति बेकार रहते हैं।

(5) दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाला—शिक्षा की दोषपूर्ण प्रणाली के कारण हमारे देश में बहुत से शिक्षित व्यक्ति बेकार हैं। आजकल केवल साहित्य से सम्बन्धित व किताबी शिक्षा ही जाती है। इसके परिणामस्वरूप शिक्षा पूरी करने के बाद व्यक्ति को विषय के सम्बन्ध में केवल सैद्धान्तिक ज्ञान मात्र होता है। उन्हें किसी प्रकार के उद्योगों से सम्बन्धित शिक्षा नहीं दी जाती। यही कारण है कि वे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी बहुत ही साधारण उद्योगों व व्यवसायों से सम्बन्धित बातों से अनभिज्ञ रहते हैं। इसी कारणवश उन्हें किसी भी प्रकार का कार्य नहीं मिल पाता और यदि मिल भी जाता है, तो वह उस कार्य को सुचारु रूप से सम्भालने व कार्यान्वित करने में असमर्थ होते हैं। साथ ही, शिक्षित व्यक्ति शारीरिक श्रम करने में भी लज्जा महसूस करते हैं। यही कारण है कि बहुत से व्यक्ति शिक्षित होकर भी बेरोजगारी में जीवन-यापन करते हैं। सरकारी नीति एवं त्रुटिपूर्ण अनुमानों के फलस्वरूप आज इंजीनियरों में भी बेरोजगारी बढ़ती जा रही है। भारत में शिक्षित बेरोजगारी केवल दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली के कारण ही नहीं है। यह अनेक अन्य कारणों से भी है। इनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—

(i) तकनीकी शिक्षा का अभाव—आज अधिकतर शिक्षा ऐसी दी जाती है जो केवल सैद्धान्तिक ज्ञान तक ही सीमित है। इसका जीवन में अधिक लाभ नहीं है। बी० ए०, एम० ए०, करने के बाद लड़के को यह भी पता नहीं होता कि उसे अब क्या करना है। तकनीकी शिक्षा के पूर्ण अभाव के कारण वह अपना कोई छोटा-मोटा काम भी नहीं कर सकता।

(ii) स्नातकों की भरमार—भारतीय विश्वविद्यालयों में स्नातकों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही है। नौकरी में इन सभी व्यक्तियों को नहीं लगाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि नौकरी की सम्भावनाएँ इतनी तेजी से नहीं बढ़ रही हैं। इसलिए शिक्षित बेरोजगारी प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही है।

(iii) शारीरिक श्रम के प्रति उदासीनता—शिक्षा के समय शारीरिक विकास तथा श्रम की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। इसके कारण शिक्षा के बाद भी लड़के शारीरिक श्रम के प्रति उदासीन रहते हैं। पढ़े-लिखे व्यक्ति न ही खेती करना चाहते हैं और न ही कोई अन्य कठिन परिश्रम। इससे भी बेरोजगारी बढ़ती है।

(6) श्रम शक्ति में धीमी गति से वृद्धि (Slow growth of labour force)—बेरोजगारी का एक कारण श्रम शक्ति का धीमी गति से विकास है। हमारे देश में जनसंख्या 2.43 प्रतिशत की दर से बढ़ती जा रही है, जबकि श्रम शक्ति में वृद्धि की दर 1.9 प्रतिशत है। इस धीमी गति के कारण भारतवर्ष में स्थिति प्रति वर्ष बिगड़ रही है। भारतीय अर्थव्यवस्था में श्रम शक्ति की वार्षिक वृद्धि का करीब 11 प्रतिशत संगठित क्षेत्र खपा लेता है। बाकी 89 प्रतिशत श्रम शक्ति असंगठित क्षेत्र में लग जाती है।

भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी की समस्या गम्भीर रूप धारण करती जा रही है। वास्तव में, शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी की समस्या अधिक उग्र एवं भयावह है। ग्रामीण बेरोजगारी के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—

(1) देश में कृषि का वर्षा पर आधारित रहना,

(2) देश में संयुक्त परिवार प्रणाली का प्रचलन, बाल विवाह एवं अधिक सन्तान के कारण जनसंख्या में तीव्र वृद्धि,

(3) कृषि के लिए धन के अपर्याप्त साधन,

(4) निम्न जातियों का शोषण,

(5) ग्रामों में शिक्षा का अभाव,

(6) कुटीर उद्योग-धन्धों का अभाव,

(7) कृषि में आधुनिकतम यन्त्रों का प्रयोग,

(8) यातायात के साधनों का अभाव,

(9) अज्ञानता, अनभिज्ञता एवं अन्धविश्वासों का प्रचलन तथा

(10) व्यावसायिक प्रशिक्षण का अभाव।

बेरोजगारी को दूर करने के उपाय

बेरोजगारी भारत में आज एक अत्यधिक गम्भीर समस्या मानी जाती है। इसीलिए सरकार इसके निराकरण के लिए अनेक कदम उठा रही है। आज भारत में यदि सामाजिक विघटन के कारणों का विश्लेषण किया जाए, तो पता चलता है कि बढ़ती हुई बेरोजगारी भी विघटन का एक प्रमुख कारण है। आये दिन बेकार व्यक्ति आत्महत्या करते हैं। व्यक्तिगत विघटन ही नहीं वरन् विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता, समाज में बढ़ते हुए अपराध भी बेरोजगारी के परिणाम कहे जा सकते हैं। यदि समाज को इन दुष्परिणामों से बचाना है तो समाज से बेरोजगारी दूर करना अनिवार्य है। इस बढ़ती हुई समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया है। यदि पिछले छह आम चुनावों (1977 से 2019 तक) के सभी पार्टियों के घोषणा-पत्रों पर दृष्टि डाली जाए तो सभी दल इस समस्या के समाधाान पर जोर देते रहे हैं। परन्तु अभी इस दिशा में आशातीत सफलता नहीं मिल पाई है। बेरोजगारी को दूर करने के कुछ प्रमुख उपाय निम्नांकित हैं—

(1) जनसंख्या पर नियन्त्रण—जनसंख्या पर नियन्त्रण द्वारा बेरोजगारी को कम किया जा सकता है। भारत में जनसंख्या की वृद्धि दर बहुत अधिक है। इसी कारण यहाँ बेरोजगारी और निर्धनता जैसी समस्याएँ पाई जाती हैं। अत: लोगों को जनसंख्या को सीमित करने की शिक्षा दी जानी चाहिए।

(2) कृषि क्षेत्र में सुधार—कृषि क्षेत्र में सुधार करके भी बेरोजगारी को कम किया जा सकता है। सिंचाई साधनों में सुधार, कृषि के यन्त्रीकरण, बंजर भूमि को उपजाऊ बनाकर, कृषकों को पर्याप्त सहायता व प्रशिक्षण देकर तथा कृषकों को सहायक उद्योग-धन्धों (जैसे मछली पालन, पशुपालन, मुर्गी पालन आदि) में प्रोत्साहन देकर कृषि के क्षेत्र में बेरोजगारी को कम किया जा सकता है।

(3) नियोजित औद्योगीकरण—औद्योगिक विकास को नियोजित कर तथा पिछड़े क्षेत्रों में कारखाने खोलकर बेरोजगारी दूर की जा सकती है। ग्रामीण उद्योगों को भी प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है। इससे

ग्रामीणों को गाँवों में ही रोजगार प्राप्त हो सकेंगे। बेकार लोगों को बैंकों द्वारा रोजगार के लिए अधिक सुविधाएँ दी जानी चाहिए।

(4) शिक्षा व्यवस्था में सुधार—शिक्षा को व्यावसायिक बनाकर शिक्षित बेरोजगारी को कम किया जा सकता है। शिक्षा पद्धति व्यावहारिक होनी चाहिए ताकि शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् विद्यार्थी अपना स्वतन्त्र व्यवसाय करने योग्य बन सकें। बेकार शिक्षितों को लघु उद्योगों की स्थापना के लिए पर्याप्त सुविधाएँ दी जानी चाहिए।

(5) रोजगार कार्यालयों को प्रभावकारी बनाकर—नए रोजगार खोलकर तथा रोजगार कार्यालयों को अधिक प्रभावशाली बनाया जाए। छात्रों को इन्हीं कार्यालयों द्वारा रोजगार का ज्ञान दिया जाना चाहिए।

(6) सामाजिक बुराइयों की समाप्ति—रूढ़िवादी एवं दहेज प्रथा जैसी बुराइयों को दूर करके भी बेरोजगारी को थोड़ा बहुत कम किया जा सकता है। वास्तव में, भारतीय सामाजिक संरचना को उन सब दोषों से मुक्त किया जाना चाहिए जो निर्धनता व बेरोजगारी को प्रोत्साहन देते हैं।

(7) सरकारी योजनाओं को प्रभावकारी बनाकर—सरकार ने बेरोजगारी व निर्धनता की रोकथाम के लिए जो योजनाएँ बनाई हैं उन्हें अधिक प्रभावकारी बनाए जाने की आवश्यकता है। यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि उनका लाभ उन्हीं लोगों को पहुँच सके जिनके लिए ये योजनाएँ बनाई जाती हैं।

(8) रोजगार अवसरों में वृद्धि—रोजगार अवसरों में वृद्धि की जानी चाहिए। कुटीर उद्योगों का विकास करके तथा पिछड़े क्षेत्रों में नवीन उद्योगों की स्थापना द्वारा ऐसा किया जा सकता है।

उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त श्रमिकों को पर्याप्त वेतन का प्रबन्ध करके, विकलांगों के पुनर्वास की योजनाएँ बनाकर, सामाजिक सुरक्षा के कार्यक्रमों को प्रभावकारी बनाकर, उत्पादन में वृद्धि करके, तकनीकी शिक्षा को बढ़ावा देकर, सामाजिक सेवाओं का विस्तार करके आदि विविध उपायों द्वारा भी बेरोजगारी को कम किया जा सकता है।

बेरोजगारी के परिणाम

निर्धनता तथा बेरोजगारी दोनों सापेक्षिक शब्द हैं। जहाँ निर्धनता होगी वहाँ बेरोजगारी अवश्य ही पाई जाएगी। यदि देश में बेरोजगारी अधिक है, तो निश्चित ही वह देश निर्धन भी होगा। इनके परिणामों का अनुमान लगाना एक कठिन कार्य है। मुख्य रूप से निर्धनता तथा बेरोजगारी के निम्नलिखित सामाजिक परिणाम कहे जा सकते हैं—

(1) सामाजिक विघटन—सामाजिक विघटन के अनेक कारण हैं। सामाजिक समस्याओं को सामाजिक विघटन का मुख्य कारण बताया गया है। बेरोजगारी समाज के अन्दर अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न कर देती है जो समाज की प्रगति में बाधक बन जाती हैं। निर्धनता के कारण समाज में बेरोजगारी फैल जाती है। अत: बेरोजगारी सामाजिक विघटन का एक बड़ा कारण है। इस सम्बन्ध में **ऑगबर्न** तथा **निमकॉफ** (Ogburn and Nimkoff) ने लिखा है कि बेरोजगारी आधुनिक युग की अत्यधिक सामाजिक गम्भीर दशा है, यह सामाजिक विघटन की साथी है।

(2) पारिवारिक विघटन—बेरोजगारी पारिवारिक विघटन का आर्थिक कारण कही जाती है। बेरोजगारी निर्धनता से जुड़ी हुई है। इनके कारण पारिवारिक विघटन को प्रोत्साहन मिलता है। इनसे पति-पत्नी व माता-पिता और बच्चों के सम्बन्ध प्रभावित होते हैं। अन्तत: व्यक्ति अपने को हर प्रकार से सामान्य रखने में विफल हो जाता है। सारा पारिवारिक वातावरण कलह एवं क्रोधपूर्ण बन जाता है। बच्चों की उचित देख-रेख एवं पत्नी की इच्छाओं की पूर्ति ठ्ठीक प्रकार से नहीं हो पाती। बच्चों को उचित शिक्षा भी नहीं मिल पाती। व्यक्तिवाद की धारणा जाग्रत हो जाती है और इससे पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

(3) व्यक्तिगत विघटन—बेरोजगारी के कारण व्यक्ति में हीनता की भावना आ जाती है। धन के अभाव के कारण उसका सामाजिक स्तर नीचा हो जाता है। व्यक्ति का दृष्टिकोण निराशावादी हो जाता है। वह अपने को समाज से अलग समझ बैठता है। वह समाज की मान्यताओं एवं रीति-रिवाजों की परवाह नहीं करता। वह अकेला एवं असहाय सा महसूस करने लगता है। इस प्रकार, उसमें व्यक्तिवाद एवं अलगाव (Alienation) की धारणा जाग्रत हो जाती है।

सामाजिक, पारिवारिक तथा व्यक्तिगत विघटन के परिणाम इस प्रकार हैं—

(i) आत्महत्या—सामाजिक, पारिवारिक तथा व्यक्तिगत विघटन के कारण व्यक्ति जीवन से निराश हो जाता है। वह कई बार तो आत्महत्या तक कर लेता है;

(ii) मद्यपान को बढ़ावा—व्यक्तिगत विघटन का दूसरा रूप मद्यपान है। जब समाज में बेरोजगारी तथा निर्धनता अधिक बढ़ती है तो इसके फलस्वरूप सामाजिक, पारिवारिक एवं व्यक्तिगत विघटन उत्पन्न हो जाता है। विघटित व्यक्ति निराशा को दूर करने के लिए शराब पीने लगता है; तथा

(iii) वेश्यावृत्ति—जैनगरा तथा **गनेकर** (Gengera and Ganekar) ने आर्थिक (क्योंकि बेरोजगारी तथा निर्धनता आर्थिक दशा के पहलू हैं) दशा को वेश्यावृत्ति का कारण बताते हुए लिखा है कि वेश्याओं की कुछ संख्या इस दूषित व्यवहार को इस कारण अपनाती हैं कि वह निर्धन एवं बेकार होती हैं। **मद्रास विजिलेन्स ऐसोसियेशन** के अनुसार, ''वेश्यावृत्ति का व्यवसाय अधिकांश रूप से जीविकोपार्जन के लिए किया जाता है।'' **लोंडरस** (Londres) ने भूख को वेश्यावृत्ति का आधार माना है।

(4) अपराध—बेरोजगारी अपराध को भी बढ़ावा देती है। बेरोजगारी के कारण व्यक्ति अपनी तथा अपने परिवार की इच्छाओं को वैज्ञानिक रूप से पूरा करने में विफल हो जाता है। वह अवैधानिक ढंगों से अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने का प्रयास करता है। वह अपने बच्चों की भी उचित प्रकार से देखरेख नहीं कर पाता। व्यक्ति का व्यक्तिगत विघटन होने लगता है। इस कारण भी उसको वैधानिकता तथा अवैधानिकता का ज्ञान नहीं रह पाता और वह अपराधी बन बैठता है।

(5) बाल अपराध—बेरोजगारी बाल अपराध को भी बढ़ाती है। बेरोजगारी के कारण बच्चों को उचित शिक्षा नहीं मिल पाती। पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए थोड़ी आयु में ही उन्हें छोटी-छोटी नौकरियों पर भेज दिया जाता है। बच्चे गन्दी आदतों के शिकार बन बैठते हैं। आर्थिक हीनता के कारण माता-पिता बच्चों की उचित ढंग से देख-रेख नहीं कर पाते। बच्चा जब अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति घर में नहीं कर पाता तो अवैधानिक रूप से उनकी पूर्ति करना चाहता है और बाल अपराधी बन बैठता है। निर्धनता तथा बेरोजगारी के कारण लोगों को गन्दी बस्तियों (Slums) में रहना पड़ता है। वहाँ के बुरे वातावरण के कारण बच्चा बाल अपराधी बन बैठता है।

(6) आर्थिक दुष्परिणाम—बेरोजगारी व्यक्ति को ही प्रभावित नहीं करती वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र को प्रभावित करती है। इसे राष्ट्रीय बरबादी की सूचक माना गया है। बेरोजगारी के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय (National income) गिर जाती है। इससे औद्योगिक अशान्ति, शोषण, अपराध, चोरी, डकैती तथा गरीबी भी बढ़ जाती है।

(7) राजनीतिक दुष्परिणाम—बेरोजगारी का राजनीतिक परिणाम भी बड़ा भयंकर होता है। अधिक बेरोजगारी बढ़ने पर समाज में अशान्ति मच जाती है। सरकार के स्थायित्व को खतरा बना रहता है। बेरोजगारी राज्य के राजनीतिक ताने बाने को तोड़ देती है। आज जो विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता दिखाई देती है, वह भी बेरोजगारी की ही देन है। अधिकांश छात्र यह सोचते हैं कि पढ़ने के बाद उन्हें कौन-सी नौकरी मिलनी है।

उपर्युक्त विवेचन से बेरोजगारी की समस्या की गम्भीरता का पता चलता है। इस दिशा में किए जाने वाले प्रयासों में तीव्रता लाने की आवश्यकता है तथा विभिन्न उपायों को क्रियान्वित करने की आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में **रमेश लक्ष्मण** (Ramesh Lakshman) का कथन उचित ही है कि, ''सब कहने और करने के उपरान्त भी बेरोजगारी की समस्या को हल करने की सरकार की नैतिक व राजनीतिक जिम्मेदारी है। इस मोर्चे पर सरकार की असफलता देश को लम्बाई व चौड़ाई से चीरती हुई व्यापक अशान्ति की ओर ले जा सकती है।''

सरकार द्वारा बेरोजगारी दूर करने के प्रयास

भारत में केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारों ने बेरोजगारी दूर करने के लिए अनेक प्रयास किए हैं। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इस समस्या की ओर काफी ध्यान दिया गया है। सरकार द्वारा किए गए कुछ प्रमुख प्रयास इस प्रकार हैं—

(1) पंचवर्षीय योजनाओं में उठाए गए कदम (Measures taken during five-year plans)—भारत सरकार ने बेरोजगारी को दूर करने हेतु विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में अनेक कदम उठाए हैं। इस समस्या की ओर सबसे अधिक ध्यान छठी पंचवर्षीय योजना (1978-83) में जनता सरकार द्वारा दिया गया। इसके बाद सभी योजनाओं में बेरोजगारी को दूर करने हेतु रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने के भरसक प्रयास किए गए हैं। पंचवर्षीय योजनाएँ भारत में विकास हेतु प्रभावशाली तो रही हैं, परन्तु इनका कार्यान्वयन सही ढंग से न हो पाने के कारण बेरोजगारी कम नहीं हो पाई है। इसका एक प्रमुख कारण जनसंख्या में होने वाली

निरन्तर वृद्धि भी है। रोजगार के अवसरों तथा जनसंख्या वृद्धि के अनुपात में असन्तुलन इस समस्या को गम्भीर बना देता है।

(2) अन्य उपाय (Other measures)—भारत में बेरोजगारी को दूर करने हेतु अनेक अन्य उपाय भी किए गए हैं, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

- सन् 1975 से लागू 20 सूत्री कार्यक्रम में 1980, 1982 तथा 1984 में संशोधन करके इसे निर्धनता उन्मूलन तथा बेरोजगारी-उन्मूलन के लिए अधिक प्रभावशाली बनाया है।
- सन् 1978-79 में भारत सरकार द्वारा एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया।
- सन् 1979 में भारत सरकार द्वारा ग्रामीण युवाओं के रोजगार हेतु प्रशिक्षण योजना (TRYSEM) प्रारम्भ की गई।
- सन् 1980 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम प्रारम्भ किए गए।
- सन् 1983 में शिक्षित बेरोजगार युवाओं हेतु स्वरोजगार योजना प्रारम्भ की गई, जिसमें उन्हें 25,000 तक आर्थिक सहायता प्रदान किए जाने का प्रावधान है।
- सन् 1983-84 में ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारन्टी कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। विकलांगों तथा शिक्षित बेकारों के लिए अनेक योजनाएँ बनाई गईं।
- अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लोगों को आरक्षण सुविधाएँ देकर रोजगार के अवसर प्रदान किए गए।
- सन् 1983 में स्वरोजगार योजना प्रारम्भ की गई। काम के बदले अनाज देने की योजना भी बनाई गई।
- 28 अप्रैल, 1989 में जवाहर रोजगार योजना का प्रारम्भ किया गया, जिसका उद्देश्य प्रत्येक निर्धन परिवार को उसके निवास स्थान के आस-पास वर्ष में 50 से 100 दिनों तक का रोजगार उपलब्ध कराना था।
- सन् 1989 में ही नेहरू रोजगार योजना प्रारम्भ की गई।
- सन् 1994 में रोजगार बीमा योजना प्रारम्भ की गई।
- सन् 1995-96 में प्रधानमन्त्री एकीकृत ग्रामीण निर्धनता उन्मूलन योजना लागू की गई।
- 1 दिसम्बर, 1997 को स्वर्ण जयन्ती रोजगार योजना प्रारम्भ की गई।
- अप्रैल, 1999 में जवाहर रोजगार योजना को पुनर्गठित करते हुए जवाहर ग्राम समृद्धि योजना प्रारम्भ की गई।

इस प्रकार, सरकार ने अनेक प्रयास किए हैं परन्तु सफलता अधिक नहीं मिली है। इस समस्या का हल केवल संगठित क्षेत्र की ओर ध्यान देने से नहीं हो सकता। अत: असंगठित क्षेत्र का विकास किया जाना चाहिए और कुछ ठोस उपाय (जैसे छोटे-छोटे फार्मों की संख्या में वृद्धि, छोटी जोतों को लाभकारी बनाने और ग्रामीण समाज में रोजगार के अवसर बढ़ाने) करने की आवश्यकता है।

अशिक्षा
(ILLITERACY)

शिक्षा व्यक्तियों को समर्थ एवं उपयोगी बनाने तथा मानव विकास का प्रमुख साधन है। यद्यपि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् जनजातियों की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया गया है, तथापि अभी भी जनजातियाँ शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं। वस्तुत: अंग्रेजी शासनकाल से पहले इनको न केवल शिक्षा से वंचित रखा जाता था, अपितु इन अनुसूचित जनजातियों एवं जातियों द्वारा शिक्षा को उपयोगी भी नहीं माना जाता था। पश्चिमी शक्तियों के भारतीय धरातल पर क्रियाशील होने से स्थिति में परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, परन्तु जनजातियों की सामाजिक संरचना में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हो सका। आधुनिक शिक्षा मानसिक योग्यताओं के विकास से सम्बन्धित थी और व्यक्ति को मानसिक कार्य करने के लिए तैयार करती थी। **ब्रजराज चौहान** (Brij Raj Chauhan) के शब्दों में, ''नई शिक्षा प्रणाली की तत्कालीन उपयोगिता की अनुभूति निम्न वर्गों द्वारा नहीं की जा सकी क्योंकि शिक्षा द्वारा उन्हें अपने परम्परागत काम या कौशल की वृद्धि के अवसर नहीं दिखाई दिए। नई शिक्षा व्यवस्था भी उनके लिए उतनी ही अजनबी थी जितनी कि परम्परागत शिक्षा।''

शिक्षा एक जटिल एवं बहुपक्षीय प्रक्रिया है। शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति की निहित शक्तियों एवं क्षमताओं का विकास होता है। शिक्षा के ही द्वारा मनुष्य 'प्राणी' से इन्सान या सामाजिक प्राणी बनता है। शिक्षा

का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन की विभिन्न विशिष्टताओं के साथ समस्त पक्षों से है। इससे मनुष्य का शारीरिक, संवेगात्मक, मानसिक तथा चारित्रिक विकास होता है। यह शिक्षा का व्यापक अर्थ है। इस अर्थ में शिक्षा मनुष्य के व्यवहार में जीवन भर चलती रहती है। इससे भिन्न अनेक बार शिक्षा को संकुचित अर्थों में भी प्रतिपादित किया जाता है। संकुचित अर्थ में शिक्षा का आशय स्कूल, पाठशाला, महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में होने वाले अध्ययन-अध्यापन से होता है। यह सीमित होती है तथा समय विशेष पर आकर समाप्त हो जाती है। इसे औपचारिक शिक्षा भी कहा जाता है।

शिक्षा अपने आप में एक अत्यधिक व्यापक एवं जटिल प्रक्रिया है जो किसी-न-किसी रूप में जीवन-पर्यन्त चलती रहती है। इस स्थिति में शिक्षा का अर्थ भी व्यापक, बहुपक्षीय है तथा कुछ हद तक इसका विवादास्पद होना स्वाभाविक ही है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से शिक्षा के भिन्न-भिन्न पक्षों को ध्यान में रखते हुए इसके अर्थ को निर्धारित किया गया है। विद्वानों तथा शिक्षाशास्त्रियों के व्यक्तिगत दृष्टिकोण ने भी शिक्षा के अर्थ को विविधता प्रदान करने में योगदान दिया है। इस स्थिति में शिक्षा के वास्तविक अर्थ को जानने के लिए विभिन्न पक्षों से शिक्षा के अर्थ का विवेचन करना प्रासंगिक होगा। मुख्य रूप से शिक्षा का शाब्दिक अर्थ, शिक्षा के प्रचलित अर्थ, शिक्षा के संकुचित अर्थ तथा शिक्षा के व्यापक अर्थ की चर्चा करनी आवश्यक है।

शिक्षा का अर्थ

अंग्रेजी शब्द 'Education' की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द 'Educere' से हुई है। विद्वानों का विचार है कि लैटिन में e out तथा ducere to lead होता है अर्थात् योग्यता को बाहर निकालना या विकसित करना ही शिक्षा है। शिक्षा के शाब्दिक अर्थ के अतिरिक्त सामान्य रूप से प्रचलित उसके अर्थ की भी चर्चा की जाती है। समाज का अधिकांश वर्ग शिक्षा के इसी अर्थ से परिचित है। इस अर्थ के अनुसार विभिन्न विषयों से सम्बन्धित कुछ तथ्यों एवं सूचनाओं को किसी भी माध्यम से प्राप्त या एकत्र कर लेना ही शिक्षा कहलाता है। इस दृष्टिकोण से तथ्यों के संकलन के ढंग आदि के विषय में कुछ भी विचार नहीं किया जाता। तथ्य संकलन एवं सूचनाएँ एकत्र करने का ढंग उचित भी हो सकता है तथा अनुचित भी। शिक्षा के इस अर्थ के सन्दर्भ में सम्बन्धित व्यक्ति के आन्तरिक विकास को कोई महत्त्व प्रदान नहीं किया गया बल्कि केवल बाहरी जगत् से प्राप्त होने वाली सूचनाओं के एकत्रीकरण को ही शिक्षा माना गया है।

शिक्षा की परिभाषाएँ

शिक्षा को निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया गया है—

(1) बटलर (Butler) के अनुसार—"शिक्षा प्रजाति की आध्यात्मिक सम्पत्ति के साथ व्यक्ति का क्रमिक सामंजस्य है।"

(2) जेम्स (James) के अनुसार—"शिक्षा कार्य-सम्बन्धी अर्जित आदतों का संगठन है, जो व्यक्ति को उसके भौतिक और सामाजिक पर्यावरण में उचित स्थान प्रदान कराता है।"

(3) बॉसिंग (Bossing) के अनुसार—"शिक्षा का कार्य व्यक्ति को वातावरण के साथ उस सीमा तक अनुकूलन कराना है, जिससे व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए स्थाई सन्तोष प्राप्त हो सके।"

(4) डिवी (Dewey) के अनुसार—"शिक्षा का अर्थ व्यक्ति की उन समस्त शक्तियों का विकास है जो उसको अपने वातावरण को नियन्त्रित करने में और सम्भावनाओं की पूर्ति में सहायक होगा।"

(5) दुर्खीम (Durkheim) के अनुसार—"शिक्षा अधिक आयु के लोगों के द्वारा उन लोगों के लिए कार्यान्वित वह प्रक्रिया है जो अभी सामाजिक जीवन में प्रवेश योग्य नहीं हैं। इसका उद्देश्य शिशु में उन भौतिक, बौद्धिक और नैतिक दशाओं की जागृति एवं विकास करना है जो उसके सम्पूर्ण समाज और पर्यावरण के लिए आवश्यक हैं तथा जिसके लिए वह विशेष रूप से पूर्व निर्दिष्ट है।"

उपर्युक्त वर्णित परिभाषाओं पर ध्यान केन्द्रित करने से ज्ञात होता है कि विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रतिपादित शिक्षा की परिभाषाओं में अत्यधिक भिन्नता एवं विविधता है।

अशिक्षा के प्रमुख कारण

जनगणना की दृष्टि से उस व्यक्ति को शिक्षित समझा जाता है जो अपने विवेक से किसी भी भाषा में लिख और पढ़ सकता हो। जो व्यक्ति पढ़ तो सकता है पर लिख नहीं सकता हो, वह साक्षर नहीं कहा जा सकता। किसी भी समाज का विकास जनसंख्या में साक्षरता दर पर निर्भर करता है। ऐसा माना जाता है कि ऐसे

समाज में जहाँ लोग शिक्षित हैं, प्रगति एवं विकास अधिक होता है। दूसरी ओर, अशिक्षित जनसंख्या वाले समाजों में परम्पराओं, अन्धविश्वासों के कारण विकसित होने वाली कुरीतियों के कारण प्रगति एवं विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसीलिए प्रत्येक देश का यह प्रयास रहता है कि वह जनसंख्या में साक्षरता दर में वृद्धि हेतु कारगार उपाय करे।

भारत में 1901 ई० में 5·35 प्रतिशत व्यक्ति ही साक्षर थे। 1951 ई० में यह प्रतिशत 16·67 था, 1981 ई० में यह बढ़कर 36·17 हो गया, जबकि 1991 ई० में यह बढ़कर 52·11 प्रतिशत, 2001 ई० में 65·38 प्रतिशत तथा 2011 ई० में 74·04 प्रतिशत हो गया है। इससे यह प्रकट होता है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् साक्षरता दर में तीव्र गति से वृद्धि हुई है, परन्तु फिर भी देश में लगभग एक-चौथाई से अधिक लोग अभी भी अशिक्षित हैं। स्त्रियों में साक्षरता में प्रगति अधिक उल्लेखनीय हुई है। 1901 ई० में कुल 0·60 प्रतिशत स्त्रियाँ साक्षर थीं, 1951 ई० में 7·93, 1981 ई० में 24·88, 1991 ई० में 39·42, 2001 ई० में 54·16 प्रतिशत तथा 2011 ई० में 65·46 प्रतिशत स्त्रियाँ साक्षर थीं, परन्तु साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि स्त्रियों का एक-तिहाई भाग अब भी अशिक्षित है। स्त्रियों की तुलना में पुरुषों की साक्षरता दर 82·14 प्रतिशत है। देश के सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए साक्षरता वृद्धि को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

अशिक्षा के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(1) शिक्षा संस्थाओं में अपर्याप्त नामांकन

(2) अपव्ययता एवं गतिहीनता

(3) छात्रावासों का अभाव एवं सम्बन्धित कठिनाइयाँ

(4) शिक्षा में लिंग, क्षेत्र व विभिन्न अनुसूचित जनजातियों में असमानताएँ

(5) पारस्परिक अनुकूलन की समस्या

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् जनजातीय शिक्षा हेतु किए गए प्रयास

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के विकास का प्रयास होता रहा और उनमें शिक्षा के प्रसार की दृष्टि से किए गए प्रयासों के तीन चरण स्पष्ट दिखाई देते हैं—

(1) अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए पृथक् स्कूलों का प्रारम्भ,

(2) संयुक्त स्कूलों में समानता के लिए संघर्ष और

(3) अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की शिक्षा हेतु विशेष प्रकार के प्रोत्साहनों (Incentives) एवं सुविधाओं की योजनाओं का लागू किया जाना।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की शैक्षिक उन्नति के लिए भारतीय सरकार विशेष रूप से प्रयत्न कर रही है और अनेक प्रकार के प्रोत्साहन देने की योजनाएँ लागू की गई हैं। विशेष प्रोत्साहन निम्न प्रकार हैं—

(1) इन जातियों एवं जनजातियों के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था,

(2) हॉस्टल में प्रवेश दिए जाने की व्यवस्था एवं विशेष हॉस्टलों की स्थापना में सहायता,

(3) विभिन्न शिक्षा एवं व्यवसायी संस्थाओं में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए निश्चित प्रतिशत में प्रवेश के लिए आरक्षण,

(4) प्रवेश के लिए निर्धारित शैक्षिक योग्यताओं में इन जातियों एवं जनजातियों के लिए कम स्तर की योग्यता को भी स्वीकृति,

(5) विभिन्न श्रेणियों के विद्यार्थियों के लिए छात्रवृत्तियों की व्यवस्था,

(6) जनजातीय क्षेत्रों में व्यावसायिक प्रशिक्षण की योजना प्रारम्भ की गई है जिसका उद्देश्य जनजातीय युवाओं के कौशल का विकास करना है ताकि उन्हें रोजगार उपलब्ध हो सके। अनुसूचित जनजातियों के छात्र-छात्राओं को व्यवसाय एवं तकनीकी शिक्षा के साथ-साथ गैर-तकनीकी एवं गैर-व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के विभिन्न स्तरों के लिए वित्तीय सहायता उपलब्ध कराई जा रही है तथा

(7) जनजातीय क्षेत्रों में शिक्षा के प्रचार-प्रसार हेतु तथा जनजाति छात्रों की प्रतिभा उन्नयन हेतु कोंचिग योजना, महिलाओं के लिए कम साक्षरता वाले क्षेत्रों में शैक्षिक परिसर योजना, उच्च शिक्षा हेतु राजीव गाँधी राष्ट्रीय फैलोशिप योजना इत्यादि अनेक योजनाएँ प्रारम्भ की गई हैं।

इसके अतिरिक्त, शिक्षा संस्थाओं में उनके प्रति भेदभाव को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया है और उनके लिए विशेष पुस्तक बैंकों का भी प्रबन्ध किया गया है।

स्वास्थ्य
(HEALTH)

मनुष्य एक सजीव प्राणी है एवं उसके लिए स्वस्थ रहना परम आवश्यक है क्योंकि स्वास्थ्य ही उसका वास्तविक ढंग है। यदि व्यक्ति स्वस्थ नहीं है अर्थात् वह रोगी है तो वह सबके लिए बोझ-सा लगने लगता है। वह तो आने वाली सन्तान के लिए भी खतरा हो सकता है क्योंकि वंशानुक्रमण द्वारा इसका उन पर भी काफी गहरा प्रभाव पड़ता है। इसीलिए प्रत्येक राज्य अपनी जनता के स्वास्थ्य की पूर्णतया देखभाल करना अपना दायित्व समझता है। **विश्व स्वास्थ्य संगठन** (World Health Organization) के अनुसार, ''जाति, धर्म, राजनीतिक विश्वास, आर्थिक या सामाजिक स्थितियों में भेदभाव रहित, स्वास्थ्य के उच्चतम स्तर को प्राप्त करने का मनुष्य को मौलिक अधिकार प्राप्त है।'' भारत के संविधान में भी इस बात का उल्लेख किया गया है, ''राज्य अपने लोगों के पोषण स्तर तथा जीवन स्तर को ऊँचा उठाने तथा जन स्वास्थ्य में सुधार करने को अपने मुख्य कर्त्तव्यों में समझेगा।'' इन सबके बावजूद भारत में स्वास्थ्य सुधार में आशाजनक प्रगति नहीं हुई है। अधिकांश व्यक्ति आज भी स्वास्थ्य के प्रति सचेत नहीं हैं। जो व्यक्ति अशिक्षित, अज्ञानी एवं अन्धविश्वासी हैं उनमें सरकार स्वास्थ्य की चेतना को जागरूक करने में अधिक सफल नहीं हो पाई है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organization), भारतीय रेडक्रॉस सोसायटी (Indian Red Cross Society), भारतीय तपेदिक रोग संघ (Tuberculosis Association of India), भारत सेवक समाज (Bharat Sewak Samaj), अखिल भारतीय अन्ध-सहायता समिति (All India Blind Relief Society), भारतीय चिकित्सा संघ (Indian Medical Association), हिन्दू कुष्ठ-निवारण संघ (Hindu Kushtha Niwaran Sangh) तथा भारतीय बाल कल्याण परिषद् (Indian Council for Child Welfare) जैसी अनेक स्वैच्छिक संस्थाएँ भारत में इस दिशा में सक्रिय भूमिका निभा रही हैं तथा जनसाधारण में स्वास्थ्य के प्रति चेतना विकसित करने में अपना योगदान कर रहे हैं।

स्वास्थ्य का अर्थ एवं परिभाषाएँ

'स्वास्थ्य' शब्द से सभी परिचित हैं। यह शब्द जितना सरल लगता है इसे परिभाषित करना उतना ही कठिन कार्य है। स्वास्थ्य शब्द स्व-अवस्था से बना है जिसका अर्थ मानव का सहज स्वाभाविक अवस्था में रहना है। बहुत से लोग स्वास्थ्य को केवल निरोग होने की अवस्था ही मानते हैं। उदाहरणार्थ—माँ के लिए बच्चे का गुपला-गुपला, मोटा-ताजा होना ही स्वास्थ्य है; पहलवानों के लिए डील-डौल वाला शरीर होना ही स्वास्थ्य है; तथा सिपाही के लिए भिड़ सकने की क्षमता होना ही स्वास्थ्य की निशानी है। इस प्रकार, भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वास्थ्य की व्याख्या करते हैं।

सामान्यतया पारम्परिक एवं रूढ़िगत सन्दर्भ में स्वास्थ्य शब्द से अभिप्राय 'बीमारी की अनुपस्थिति' से लगाया जाता है। परन्तु यह शब्द इस अर्थ से अधिक व्यापक अर्थ वाला शब्द है।

वोल्टमर एवं **ऐसलिंगर** (Voltmer and Esslinger) के शब्दों में, ''स्वास्थ्य; व्यक्ति का वह गुण है जिसमें वह मानसिक तथा शारीरिक रूप से स्वस्थ होता है तथा जिसमें उसके शारीरिक अंग, आन्तरिक तथा बाहरी रूप से अपने पर्यावरण से व्यवस्थित होते हैं।'' इस परिभाषा में स्वास्थ्य को शारीरिक स्वास्थ्य तक ही सीमित न रखकर मानसिक स्वास्थ्य को भी इसी में सम्मिलित किया गया है।

स्वास्थ्य की सर्वाधिक उपयुक्त परिभाषा **विश्व स्वास्थ्य संगठन** (WHO) द्वारा दी गई है। इस परिभाषा के अनुसार, ''स्वास्थ्य का अर्थ न केवल बीमारी अथवा शारीरिक कमजोरी की अनुपस्थिति है, अपितु शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक रूप से पूर्णत: स्वस्थ होना भी है।''

विश्व स्वास्थ्य संगठन की उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल बीमारी का न होना ही स्वास्थ्य नहीं है क्योंकि बिना किसी रोग से ग्रस्त होने पर भी व्यक्ति प्रसन्नचित्त एवं पूर्णतया स्वस्थ नहीं होता। कई बार व्यक्ति थकावट महसूस करता है तथा उसमें काम करने की क्षमता नहीं होती। मानव का शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक रूप से स्वस्थ होना ही 'स्वास्थ्य' कहा जाता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि इसमें आध्यात्मिक स्वास्थ्य भी सम्मिलित किया जा सकता है।

स्वास्थ्य के सम्बन्ध में कुछ अन्य तथ्य निम्नलिखित हैं—

(1) स्वास्थ्य का अर्थ स्वस्थ रहना अथवा बीमारी का न होना है।

(2) स्वास्थ्य एक अनुकूल परिस्थिति है जिसमें शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक रूप से खुशहाली हो।

(3) स्वास्थ्य जीवन का एक तरीका है जिसे जीने हेतु शरीर के कार्य और उसे स्वस्थ रखने के उपायों का ज्ञान आवश्यक है।

(4) स्वास्थ्य का सम्बन्ध आत्मबोध, पारस्परिक सम्बन्ध एवं समाज को कुछ योगदान देने की आकांक्षा से है।

(5) स्वास्थ्य एक व्यक्तिगत उत्तरदायित्व है। जब तक व्यक्ति स्वयं स्वस्थ रहने का प्रयास नहीं करता, तब तक उसे कोई उत्तम स्वास्थ्य नहीं दे सकता।

(6) स्वास्थ्य जीवन का अनुकूल गुण है जो हमें जीवन को पूर्ण रूप से जीने एवं सहयोगियों की सम्पूर्ण क्षमता के साथ सेवा करने में सहायता प्रदान करता है।

स्वास्थ्य का महत्त्व

मानव की शारीरिक संरचना एक मशीन की भाँति होती है। जिस प्रकार मशीन के अनेक अंग होते हैं तथा किसी अंग के खराब होने पर मशीन कार्य करना बन्द कर देती है, ठीक उसी प्रकार मानव शरीर का निर्माण अनेक अंगों-प्रत्यंगों से होता है जो एक-साथ मिलकर सुचारु रूप से कार्य करते हैं। यदि मानव शरीर का कोई अंग खराब हो जाता है तो मशीन की भाँति मानव शरीर कार्य करना तो बन्द नहीं करता क्योंकि मानव शरीर में अधिकाधिक तनाव सहने एवं असाधारण स्थितियों का सामना करने की क्षमता होती है, परन्तु इससे शरीर की कार्य-प्रणाली अवश्य प्रभावित होती है। शरीर में विकार उत्पन्न हो जाता है जिसे सामान्य भाषा में रोग की स्थिति कहा जाता है। स्वास्थ्य का सम्बन्ध शरीर द्वारा ठीक प्रकार से कार्य करने से है।

स्वास्थ्य ही वह आधार है जो व्यक्ति को उत्तम जीवन व्यतीत करने तथा अधिकतम सेवा प्रदान करने का अवसर देता है। इस सन्दर्भ में **स्वामी रामकृष्ण** ने कहा है, ''वह व्यक्ति जो नरम एवं दुर्बल बुद्धि का है, दूध में भीगे हुए चावलों की भाँति किसी काम का नहीं होता। वह कुछ विशेष नहीं पा सकता। परन्तु शक्तिशाली तथा पौरुषत्व रखने वाला व्यक्ति पराक्रमी होता है। वह जीवन में सब-कुछ प्राप्त कर सकता है।'' इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्वस्थ न होने की स्थिति में व्यक्ति की कार्यक्षमता प्रभावित होती है।

किसी भी समाज का आधार स्वस्थ नागरिक ही होते हैं। स्वस्थ व्यक्ति न केवल अपने जीवन को उत्तम एवं सन्तोषजनक बनाने में सक्षम होता है बल्कि वह किसी भी भूमिका का कुशल रूप से निष्पादन भी कर सकता है। वह अपने परिवार, समुदाय, राज्य तथा राष्ट्र की प्रगति में सहायक होता है। जिस समाज में व्यक्तियों का स्वास्थ्य ठीक नहीं होता, वह प्रगति नहीं कर सकता है। लोगों के स्वास्थ्य एवं आर्थिक विकास में प्रयत्क्ष सम्बन्ध पाया जाता है। इतना ही नहीं, व्यक्ति की स्वस्थता एवं समाज की स्वस्थता को एक-दूसरे पर निर्भर माना जाता है। एक ओर, कई रोग ऐसे होते हैं जो पारस्परिक सम्पर्क से फैलते हैं। यदि कोई व्यक्ति रोगी है तो वह परिवार के अन्य सदस्यों के साथ-साथ समुदाय के सदस्यों को भी प्रभावित कर सकता है। इसीलिए अस्वस्थ व्यक्ति समुदाय के लिए खतरा भी बन सकते हैं। दूसरी ओर, समाज भी अपने सदस्यों के स्वास्थ्य की ओर इसलिए ध्यान देता है क्योंकि यदि वे स्वस्थ होंगे तो समाज सुचारु रूप से चल पाएगा। अन्य शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि 'स्वस्थ समाज में स्वस्थ व्यक्ति' तथा 'स्वस्थ व्यक्तियों से स्वस्थ समाज' दोनों स्तरों पर स्वास्थ्य की अन्तर्निर्भरता के द्योतक हैं।

आर्थिक दृष्टि से भी व्यक्ति के स्वास्थ्य का अत्यधिक महत्त्व है। स्वास्थ्य व्यक्ति को आर्थिक समृद्धि की ओर ले जाता है। न केवल अस्वस्थ व्यक्ति को उपचार हेतु धन व्यय करना पड़ता है अपितु समाज को भी अस्पतालों, कर्मचारियों, दवाइयों तथा अन्य सुविधाओं पर खर्च होने वाले धन को जुटाना पड़ता है। यदि इस धन को नागरिकों को अन्य सुविधाएँ प्रदान करने पर खर्च किया जाए तो उनका रहन-सहन का स्तर अधिक ऊँचा हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि स्वास्थ्य का न केवल व्यक्ति के जीवन में अपितु समुदाय एवं समाज की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इसीलिए **इमर्सन** (Emerson) ने 'स्वास्थ्य को पहली पूँजी' (The first wealth is health) कहा है। **स्वामी विवेकानन्द** ने इस सन्दर्भ में उचित ही कहा है, ''व्यक्ति चाहे शरीर से दुर्बल हो या मन से, वह कभी भी आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता'' (The Atma is not attainable by weak man)।

स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक

व्यक्ति के स्वास्थ्य पर प्रभाव डालने वाले प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं—

(1) वंशानुक्रमण अथवा आनुवंशिकी—मानव के मानसिक एवं शारीरिक गुण, गर्भ धारण के समय जीन/गुणसूत्र (Genes) के द्वारा निर्धारित होते हैं। जीन/गुणसूत्र को ही वंशानुक्रमण की इकाई माना जाता है। प्रत्येक वंशानुक्रमण गुण; जैसे—ऊँचाई, त्वचा का रंग, चेहरा, रक्त समूह (Blood Group) इत्यादि माता एवं पिता के गुणसूत्रों के द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। बहुत सी ऐसी बीमारियाँ हैं जो वंशानुक्रमण द्वारा आने वाली पीढ़ी को भी हस्तान्तरित हो जाती हैं; जैसे—मधुमेह (Diabetes), खण्ड तालु (Cleft Palate), मिर्गी (Epilepsy) इत्यादि। इस प्रकार, माता-पिता के कुकर्मों का फल उनकी भावी सन्तान को भुगतना पड़ता है।

(2) भौतिक एवं जैविक कारक—मनुष्य के स्वास्थ्य की कुंजी उसके भौतिक एवं जैविक वातावरण में निहित होती है। इसीलिए भौतिक एवं जैविक कारक स्वास्थ्य को काफी सीमा तक प्रभावित करते हैं। भौतिक वातावरण मनुष्य के बाह्य वातावरण का वह भाग है जो जीवन से रहित है; जैसे—जल, वायु, मकान, मिट्टी इत्यादि। भौतिक वातावरण जितना साफ-सुथरा होगा, व्यक्ति का स्वास्थ्य भी उतना ही अच्छा होगा। वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, अत्यधिक शोर, विकिरण (Radiation) के खतरे इत्यादि मानव स्वास्थ्य में बाधक होते हैं। इन बाधक तत्त्वों से मानव जीवन के गुणों में कमी आती है। भौतिक वातावरण की भाँति जैविक वातावरण में असन्तुलन भी मनुष्य के स्वास्थ्य को प्रभावित करता है।

(3) सामाजिक-सांस्कृतिक कारक—भौतिक एवं जैविक वातावरण के अतिरिक्त मानव का अपना सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण भी होता है जिसमें समाज के रीति-रिवाज, आदतें, धर्म तथा रहन-सहन के नियमों को सम्मिलित किया जाता है। मनुष्य का सामाजिक वातावरण से असामंजस्य का परिणाम स्वास्थ्य में खराबी होता है। मादक द्रव्यों का सेवन, मद्यपान, अपराध, बाल-अपराध, हिंसा, चोरी, जुआ खेलना, आत्महत्या, तलाक, पेट का फोड़ा (Peptic Ulcer), रक्तचाप का बढ़ना (High Blood Pressure) इत्यादि सामाजिक असामंजस्य के परिणाम ही माने जाते हैं। एक ओर, मनुष्य ने अपने भौतिक तथा जैविक वातावरण को तो नियन्त्रित कर लिया है, परन्तु दूसरी ओर, वह अपने सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण को नियन्त्रित करने में असफल रहा है। अत: यह सत्य है कि एक स्वस्थ सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण व्यक्ति के विकास हेतु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी में समाज का कल्याण है।

(4) मनोवैज्ञानिक कारक—आज के युग में मनोविज्ञान का बहुत महत्त्व है तथा ''स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क'' वाली कहावत सही बैठती है। शिशु के मानसिक विकास में प्रेम, अपनत्व, स्वतन्त्रता, उपलब्धि, प्रशंसा, मान्यता, भोजन, स्नान, कपड़ा, आराम, मनोरंजन, नींद, व्यायाम, खेलकूद सभी की आवश्यकता है। घरेलू वातावरण भी बच्चे के विकास में सहायक/बाधक हो सकता है। स्वस्थ मानसिक वातावरण एवं दृष्टिकोण जीवन में उत्साह, सबलता एवं जीवन्तता लाता है। इससे व्यक्ति अपने आपको परिस्थितियों के अनुकूल ढालने की क्षमता प्राप्त करता है। निषेधात्मक दृष्टिकोण, सदैव बड़बड़ाते रहने, अपनी किस्मत को कोसते रहने, धन या समय के अभाव की दुहाई देते रहने की मानसिक प्रवृत्ति निराशा एवं आत्म-ग्लानि को जन्म देती है जिससे उसका स्वास्थ्य प्रभावित होता है।

(5) पोषण कारक—पोषण और स्वास्थ्य का चोली-दामन का साथ है क्योंकि सामान्य कहावत है कि 'जैसा खाए अन्न वैसा होवे मन'। आहार शरीर में ऊर्जा प्रदान करता है, उसके गठन में सहायक है, ऊतकों के कार्यों को बनाए रखने के साथ-साथ उन पर नियन्त्रण रखता है तथा शरीर की सुरक्षा करता है। व्यक्ति को साधारण वृद्धि एवं विकास हेतु अच्छे पोषण एवं सन्तुलित आहार की आवश्यकता होती है। उचित आहार का अभाव भी स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालता है। इसीलिए ऐसा माना जाता है कि पोषण जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य के स्वास्थ्य को प्रभावित करता है। कुपोषण से विभिन्न प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हैं।

(6) आर्थिक कारक—स्वास्थ्य आर्थिक कारकों से भी प्रभावित होता है। गरीबी को सभी बुराइयों का कारण माना जाता है। इसीलिए गरीबी अभिशाप भी है। गरीबी और रुग्णता एक-दूसरे के पर्याय हैं। गरीबी से रोग, क्षय तथा मृत्यु को बढ़ावा मिलता है। इसके कारण न तो सन्तुलित आहार की व्यवस्था हो पाती है और न ही चिकित्सा सेवाएँ उपलब्ध हो पाती हैं। ऐसा माना जाता है कि आर्थिक स्तर ऊँचा होने से स्वास्थ्य का स्तर भी ऊँचा होता है। इसीलिए विकसित देशों के लोग, अविकसित देशों के लोगों से अधिक अच्छे स्वास्थ्य का

आन्नद लेते हैं क्योंकि उनका आर्थिक स्तर ऊँचा होता है। भारत अभी गरीब देशों की सूची में ही है तथा प्रति व्यक्ति आय काफी कम है।

(7) स्वास्थ्य सेवाओं का स्तर—स्वास्थ्य सेवाओं के स्तर को स्वास्थ्य की प्रगति का द्योतक माना जाता है। भारत में पहले स्वास्थ्य सेवाएँ अत्यधिक सीमित दायरे में थीं तथा ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में इनमें काफी अन्तर पाया जाता था। यद्यपि आज स्थिति थोड़ी अच्छी है, फिर भी गाँवों में शहरों की तुलना में स्वास्थ्य सेवाएँ नगण्य ही हैं। इसीलिए सरकार ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, उप-स्वास्थ्य केन्द्रों तथा ग्रामीण स्वास्थ्य केन्द्रों द्वारा सामुदायिक स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध कराने का हरसम्भव प्रयास कर रही है। स्वास्थ्य सेवाओं में वृद्धि से भारत में औसत आयु में भी वृद्धि हो रही है।

विचलन
(DEVIANCE)

प्रत्येक समाज में ऐसे व्यक्ति और समूह विद्यमान होते हैं जो सामाजिक आदर्शों का अनुपालन ही नहीं करते। भारत में सरकार द्वारा प्रतिवर्ष चोरी, डकैती, आत्महत्या, नशाखोरी, जुआ, बलात्कार आदि के सम्बन्ध में आँकड़े प्रकाशित किए जाते हैं। ऐसा सभी समाजों में होता है। फैशन या नई जीवन शैली के नाम पर अनेक ऐसे व्यवहार भी होते हैं जो समाज के प्रचलित आदर्शों के अनुरूप नहीं होते। समाज भी उन्हें अपराध की संज्ञा नहीं देता वरन् अपनी अप्रत्यक्ष सहमति से बने रहने देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विचलन के प्रति समाज की प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। स्वाभाविक प्रश्न उठते हैं कि विचलन कौन-सा व्यवहार है? वह क्यों होता है? उसके समाज के लिए क्या परिणाम होते हैं? अब हम इन्हीं मुख्य प्रश्नों पर विचार करेंगे।

विचलन का अर्थ एवं परिभाषाएँ

विचलन उतना ही पुराना है जितना कि मानव समाज। प्रत्येक युग में विचलन होता रहा है और समाज उसके रोकथाम की व्यवस्था करता रहा है। इस व्यवस्था के होते हुए भी यदि किसी ने विचलन किया तो समाज ने उसे दण्डित किया। उदाहरणार्थ—'रामायण' के नायक राम के युग में एक ऐसी घटना आती है कि शम्बूक नामक शूद्र वेद-मन्त्रों के उच्चारण सहित घोर तपस्या कर रहा था। उसका यह व्यवहार वर्ण धर्म के अनुकूल नहीं था क्योंकि शूद्रों को इस प्रकार से तपस्या करने का अधिकार नहीं था। शम्बूक अपराधी घोषित किया गया, वह विचलन का दोषी था। महाराजा राम ने उसे प्राण दण्ड दिया। इससे यह भी सिद्ध होता है कि विभिन्न कालों में विचलन कहे जाने वाले व्यवहारों की स्थिति बदल भी सकती है। जैसे आधुनिक युग में कोई निम्न जाति का व्यक्ति इस प्रकार तपस्या करता है तो वह कदापि विचलनकर्ता नहीं कहा जाएगा। इस भाँति, किसी भी व्यक्ति या समूह का कोई भी व्यवहार, जिसे करने की समाज उनसे आशा नहीं करता, सामाजिक विचलन कहा जाता है। प्रमुख विद्वानों ने इसे निम्नांकित शब्दों में परिभाषित किया है—

(1) **इंकलिस** (Inkeles) के अनुसार—"सामाजिक विचलन तब पैदा होता है जब वह स्वीकृत आदर्शों से हटा हुआ हो और एक ऐसा कार्य हो जिसके बारे में समुदाय उग्र महसूस करता है, इतना उग्र कि ऐसी प्रतिक्रियाएँ करता है कि उस विचलित व्यवहार को होने ही न दिया जाए या फिर नियन्त्रित कर दिया जाए।" इस भाँति, इंकलिस के अनुसार सामाजिक विचलन वही व्यवहार कहा जाएगा जो समाज की कड़ी प्रतिक्रिया का विषय बन जाए और समाज इसे रोकने या नियन्त्रित करने के लिए तत्पर हो उठे। दूसरे शब्दों में, यह व्यवहार समाज के प्रमुख मूल्यों की दृष्टि से हटकर ही नहीं है वरन् अपकारी भी है।

(2) **फैडरिको** (Federico) के अनुसार—"समाजशास्त्री इस शब्द का प्रयोग किसी भी उस व्यवहार के लिए करते हैं जो समाज की प्रत्याशाओं (Expectations) का उल्लंघन करता है।" इस परिभाषा में वे सभी व्यवहार सम्मिलित हैं जो समाज के अन्य सदस्यों द्वारा असाधारण, अप्राकृतिक, अप्रचलित व अनैतिक हैं या सीधे और साफ नहीं समझे जाते। फैडरिको जैसे विद्वानों ने सामाजिक विचलन को व्यापक अर्थों में परिभाषित किया है। उनके अनुसार प्रत्येक विचलन समाज की कड़ी प्रतिक्रिया भी आमन्त्रित करता है।

(3) **लाईट** एवं **कैलर** (Light and Keller) के अनुसार—"विचलन एक आवरणपूर्ण शब्द है जो प्रतिभा तथा साधुता से लेकर अपराध एवं पागलपन, विद्रोह तथा सनकीपन सभी-कुछ को आच्छादित कर लेता है। वास्तव में; कोई भी व्यवहार, जो सामाजिक प्रत्याशाओं का उल्लंघन करता है, विचलित व्यवहार के रूप में चिह्नित किया जा सकता है।"

अत: स्पष्ट है कि विचलन की परिभाषा समाज विशेष के सन्दर्भ में ही की जा सकती है। विचलन वह व्यवहार है जो उस समय के अधिसंख्यक सदस्यों द्वारा अस्वीकृत है व जिसके विरुद्ध कार्यवाही की जानी चाहिए।

विचलन की प्रमुख विशेषताएँ

विचलन की उपर्युक्त परिभाषाओं के विवेचन के आधार पर इसकी निम्नांकित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

(1) अर्थ की व्यापकता—यह एक व्यापक अर्थ वाला शब्द है जिसमें एक नहीं अनेक प्रकार के व्यवहारों को सम्मिलित किया जाता है। किसी भी समाज में विचलित व्यवहार की सूची बना देना कठिन ही नहीं प्राय: असम्भव भी है। इसके अतिरिक्त, एक ही समाज में विभिन्न समयों में विचलन का अर्थ परिवर्तित होता रहता है।

(2) सामाजिक आदर्शों द्वारा परिभाषित—कोई भी व्यवहार अपने में विचलन नहीं होता अपितु वह तो सामाजिक आदर्शों की कसौटी पर ही विचलन अथवा अनुपालन कहा जाएगा। उदाहरणार्थ, सिपाही भी दंगाइयों पर गोली चलाता है और उससे मानव-वध भी होता है, परन्तु उसे हत्या करने का अपराधी नहीं माना जा सकता है जबकि अन्य व्यक्तियों द्वारा किया जाने वाला ऐसा व्यवहार निश्चित ही विचलन व हत्या कहा जाएगा।

(3) परिभाषा की परिवर्तनशीलता—विचलन की परिभाषा समयानुसार बदलती रहती है। उदाहरणार्थ—कभी सती होने वाली स्त्री देवी के रूप में प्रतिष्ठित थी, तो आज कोई भी स्त्री यदि अपने मृत पति के शव के साथ जलने का प्रयास करेगी तो आत्महत्या की दोषी मानी जाएगी और दण्डनीय होगी।

(4) सांस्कृतिक विभिन्नता—विचलन की परिभाषा एक ही समाज में दो भिन्न कालों में या उसके दो विभिन्न वर्गों में ही भिन्न-भिन्न नहीं होती वरन् विभिन्न संस्कृतियों में भी एक ही कार्य के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—कुछ अरब देशों में पुरुष समलैंगिक व्यवहार (Homo-sexual behaviour) विचलन नहीं माना जाता, जबकि हमारे देश में यह अप्राकृतिक मैथुन माना जाता है जोकि दण्डनीय अपराध है। कनाडा में तो समलैंगिक विवाह को भी सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है।

(5) स्पष्टीकरण भी परिवर्तनशील—विचलन की एक अन्य विशेषता यह है कि इसकी परिभाषा ही नहीं बदलती, बल्कि विचलित व्यवहार के स्पष्टीकरण भी बदलते रहते हैं। उदाहरणार्थ—**लाईट** एवं **कैलर** ने अमेरिकी समाज में समलैंगिकता के स्पष्टीकरण की परिवर्तनशीलता के सम्बन्ध में लिखा है कि कभी इसे प्रकृति के विरुद्ध अपराध, पाप या भ्रष्टता माना जाता था जिसका आशय था कि दोषी व्यक्ति नैतिक रूप से सज्जन व्यक्तियों के बीच जीने के लिए अनुपयुक्त है। बाद में इसे मानसिक रोग माना जाने लगा जो ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण बाध्यता पैदा कर देता है कि व्यक्ति ऐसा कार्य कर बैठता है, परन्तु मनोचिकित्सा से इसका उपचार किया जा सकता है। परन्तु 1974 ई० में 'अमेरिकी मनोचिकित्सा संघ' ने यह घोषित किया कि यह कोई मानसिक रोग नहीं है, बल्कि मनुष्य की लैंगिक अभिरुचि में गड़बड़ी है।

(6) सम्बन्धित व्यक्ति की प्रस्थिति से प्रभावित—विचलन के निर्धारण में ऐसे व्यवहार करने वाले व्यक्तियों की सामाजिक प्रस्थिति भी प्रभाव डालती है। उदाहरणार्थ—अमीरों के लिए भोजन से पहले मदिरा सेवन करना एक सामाजिक परम्परा का विषय है, अमीरों का शौक है; परन्तु गरीबों के लिए यही काम व्यवहार का दोष है और उसे शराबी कहा जाता है। सच तो यह है कि विचलन का निर्धारण आंशिक रूप से सामाजिक शक्ति का विषय भी है। जो लोग शक्ति की स्थिति में होते हैं और अपने निर्णयों को लागू कर सकते हैं, वे ही इस बात को तय करते हैं कि किस आचरण को उचित कहा जाए और किस को विचलन।

विचलन का समाजशास्त्रीय स्पष्टीकरण

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस बात पर तो प्रकाश डालते हैं कि विचलन करने वाले व्यक्तियों की मनोदशा कैसी होती है, परन्तु वे इस बात को स्पष्ट नहीं कर पाते कि एक ही मनोस्थिति में दो व्यक्ति अलग-अलग व्यवहार क्यों करते हैं। इसी भाँति, वे यह भी स्पष्ट नहीं कर पाते कि एक ही समाज में प्राय: प्रतिवर्ष अपराध की एक-सी दरें क्यों होती हैं। समाजशास्त्रीय स्पष्टीकरणों ने इन प्रश्नों पर प्रकाश डाला है। वास्तव में, विचलन का अध्ययन **दुर्खीम** (Durkheim) द्वारा ही प्रारम्भ कर दिया गया था जब उन्होंने अपनी 'सामाजिक अप्रतिमानता' (Social anomie) की व्याख्या प्रस्तुत की। **मर्टन** (Merton) ने उनकी विचारधारा को ओर

आगे बढ़ाया है। उनके अनुसार सामाजिक संरचना अपने सदस्यों के सम्मुख व्यवहार के लिए सांस्कृतिक लक्ष्य ही प्रस्तुत नहीं करती वरन् उनकी प्राप्ति के लिए संस्थागत साधनों को भी निर्धारित कर देती है। यदि कोई व्यक्ति संस्कृति द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने में संस्थागत उपायों को ही अपनाता है तो वह अनुपालन कर रहा होता है। अन्य परिस्थितियों में अप्रतिमानता की स्थिति होती है जोकि विचलित व्यवहार की ओर ले जाती है। मर्टन के विचारों को निम्नांकित सारणी द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—

सांस्कृतिक लक्ष्यों के साथ अनुकूलन के मर्टन द्वारा अभिव्यक्त प्रतिरूप

अनुकूलन के ढंग	सांस्कृतिक लक्ष्य	संस्थागत साधन
1. अनुरूपता (Conformity)		
2. प्रवर्तन (Innovation)		
3. कर्मकाण्डीयता (Ritualism)		
4. प्रत्यावर्तन (Retreatism)		
5. विद्रोह (Rebellion)		

उपर्युक्त सारणी में का चिह्न स्वीकृति का द्योतक है तथा का चिह्न अस्वीकृति का द्योतक है, जबकि इस बात को बताता है कि इस अनुकूलन में सांस्कृतिक लक्ष्यों और संस्थागत साधनों की स्वीकृति ही नहीं दी जाती, बल्कि उनके स्थान पर नए सांस्कृतिक लक्ष्यों और उनके अनुरूप संस्थागत साधनों को आरोपित करने का भी प्रयास किया जाता है।

अनुपालन या अनुरूपता संस्कृति द्वारा अनुमोदित लक्ष्यों को संस्कृति द्वारा ही अनुमोदित साधनों द्वारा प्राप्ति का प्रयास है। प्रवर्तन या नवाचार सांस्कृतिक लक्ष्यों को तो मानता है परन्तु संस्थागत साधनों में कोई नया तरीका अपनाता है जो समाज की वृहत् मान्यताओं के अनुकूल नहीं होता; जैसे—कोई विद्यार्थी अच्छे नम्बर प्राप्त करने के लिए नकल का तरीका अपनाए। कर्मकाण्डीयता या संस्कारवाद का उदाहरण एक वह शिक्षक है जो कोर्स समाप्त करने के लिए जल्दी-जल्दी व्याख्यान दिए जाता है बिना इस बात की चिन्ता किए कि छात्र समझ रहे हैं या नहीं क्योंकि वह सांस्कृतिक साधनों का प्रयोग तो कर रहा है परन्तु लक्ष्यों की पूर्ति नहीं कर रहा है। प्रत्यावर्तनीय या पलायनवादी वे होते हैं जिन्हें लक्ष्यों व साधनों दोनों की उपादेयता में कोई विश्वास नहीं होता; जैसे—बहुत-से शराबी नशे की लत के इसलिए शिकार हो जाते हैं कि वे समाज द्वारा निर्देशित लक्ष्यों व उन्हें प्राप्त करने के उपायों को निरर्थक व अर्थहीन समझते हैं। विद्रोह के स्पष्ट उदाहरण पंजाब के आतंकवादी हैं जो भारतीय संविधान के अन्तर्गत समाज के अंग ही नहीं रहना चाहते वरन् उसके स्थान पर एक नए राष्ट्र व संविधान की स्थापना करना चाहते हैं। उनके रास्ते भी संस्थागत मार्ग से बिलकुल अलग हैं।

इसी भाँति, कुछ विद्वानों ने विचलन के लिए समाज द्वारा ऐसे व्यक्ति को चिह्नित कर देना (Labelling) या उन पर कलंक का टीका (Stigma) लगा देना भी उत्तरदायी पाया है। किसी के नासमझी या आकस्मिक भावावेश में किए गए व्यवहार के परिणामस्वरूप उसे दोषी, चोर, पागल, दादा, गुण्डा, बदमाश कह कर ऐसे 'लेबल' लगा दिया जाता है जो उससे छुटाए नहीं छूटता और वह व्यक्ति उसी विचलन की राह पर चलता रहता है। यही प्रक्रिया भूतपूर्व दण्डभोगी अपराधी के पुनर्वास में भी बाधक होती है।

कुछ ऐसे विचलन भी हैं जो परिवार-विशेष या समुदाय-विशेष में सांस्कृतिक विरासत के रूप में हस्तान्तरित होने लगते हैं। समाजीकरण के माध्यम से ऐसे वातावरण में व्यक्ति अपराध ही सीखता है। कभी-कभी सामाजिक संरचना समय के साथ इतनी पिछड़ चुकी होती है कि वह कुछ व्यक्ति-विशेष या समूहों की आकांक्षाएँ पूरी नहीं कर पाती और व्यक्ति को विचलन के लिए प्रेरित करती है।

उपर्युक्त स्पष्टीकरण का अध्ययन इस निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि विचलन किसी एक कारक द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता। यह तो बहुकारकीय धारणा है और विचलित व्यवहार को इन सभी कारकों की दृष्टि से देखना पड़ेगा यद्यपि यह हो सकता है कि किसी एक व्यक्तिगत मामले में कोई एक कारक अधिक प्रभावशाली ढंग से क्रियाशील हो।

अन्त में, हम यह अवश्य कहना चाहेंगे कि प्रत्येक विचलन समाज के लिए अपकार्य करने वाला नहीं होता, वरन् कभी-कभी यह नए परिवर्तनों की आवश्यकता की ओर इशारा करता है व उनका स्रोत हो जाता है।

ऐसी स्थितियों में इसके द्वारा उत्पन्न सामाजिक विघटन सामाजिक प्रगति की कीमत ही समझा जाएगा जो हर नए परिवर्तन के लिए समाज को चुकानी ही पड़ती है।

विचलित व्यवहार का समाजशास्त्र

विचलित व्यवहार असामान्य व्यवहार को कहते हैं। अन्य शब्दों में, यह एक ऐसा व्यवहार है जो समाज के सदस्यों के सामान्य व्यवहार से अलग है। विचलित व्यवहार का अर्थ समाज के भिन्न वर्गों के लिए भिन्न-भिन्न हो सकता है तथा इसीलिए इसकी परिभाषा उस समूह द्वारा दी जाती है जो सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक दृष्टि से प्रबल है। सामान्यत: सामाजिक रूप से विचलित व्यक्ति उसे कहते हैं जो समूह, संगठन, संस्था अथवा समाज के व्यवहार के सामाजिक नियम या कानून को तोड़ता है। अत: यह एक ऐसा व्यवहार है जो पहले तो खतरनाक नहीं होता अपितु बाद में अपराधों को प्रोत्साहन दे सकता है। समाजशास्त्र की जिस शाखा में विचलित व्यवहार का अध्ययन किया जाता है उसे 'विचलित व्यवहार का समाजशास्त्र' कहा जाता है।

सेलिन (Sellin) ने अपराध की व्याख्या अपराधी व्यवहार को आधार मान कर दी है। इनके अनुसार सांस्कृतिक जीवन में होने वाला संघर्ष विचलित व्यवहार को प्रोत्साहन देता है। वास्तव में, विचलित व्यवहार संस्कृति द्वारा ही परिभाषित होता है तथा इसके द्वारा ही निर्धारित होता है। इस प्रकार, यह किसी सांस्कृतिक मान्यताओं या सामान्य व्यवहार प्रतिमानों के विपरीत किया गया कार्य है। अत: समूह इन प्रतिमानों को तोड़ने वालों का प्रतिरोध करते हैं। यह प्रतिरोध कम या अधिक मात्रा में हो सकता है तथा उस व्यवहार नियम पर आधारित है जिसे तोड़ा गया है।

प्रो० सुशील चन्द्र (Sushil Chandra) ने भारत में विचलन के समाजशास्त्र में तीन प्रमुख पहलुओं को सम्मिलित किया है। ये हैं—

(1) बाल निराश्रयता (Juvenile destitution);

(2) भिक्षावृत्ति (Beggary); तथा

(3) जातीय दूरी तथा पृथक्करण (Caste distance and segregation)।

के० एस० शुक्ला (K. S. Shukla) ने 'भारतीय समाज विज्ञान अनुसन्धान परिषद्' (Indian Council of Social Science Research) के लिए लिखे 'प्रवृत्ति लेख' (Trend Report) में विचलित व्यवहार के समाजशास्त्र में निम्नांकित पहलुओं को सम्मिलित किया है—

(1) पुरुषों में विचलन (Deviance among men);

(2) स्त्रियों में विचलन (Deviance among women);

(3) बालकों में विचलन (Deviance among juveniles);

(4) आत्महत्या (Suicide);

(5) गैर-अधिसूचित समुदाय तथा विचलन (Denotified communities and deviance);

(6) मादक द्रव्य व्यसन तथा मद्यपान (Drug addiction and alcoholism); तथा

(7) सुधार (Correction)।

पुरुषों में विचलन अनेक रूपों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ—संघर्ष तथा तनाव से लेकर मानसिक दुर्बलता एवं अपराध तक इसमें सम्मिलित हैं। स्त्रियों में विचलन से सम्बन्धित सर्वाधिक अध्ययन देवदासी प्रथा, काल गर्ल, वेश्यावृत्ति तथा अपराधी महिलाओं के बारे में हुए हैं। किशोरों अथवा बालकों में विचलन सम्बन्धी अध्ययन मुख्य रूप से बाल अपराधियों, बाल-भगोड़ों इत्यादि पर ही किए गए हैं। आत्महत्या पर भारत में अनेक अध्ययन हुए हैं। गैर-अधिसूचित समुदायों में मुख्यत: भूतपूर्व अपराधी जनजातियों में सामाजिक विचलन को अध्ययन में सम्मिलित किया जाता है। मादक द्रव्य व्यसन तथा मद्यपान के बारे में अनेक सामाजिक वैज्ञानिकों ने उल्लेखनीय कार्य किए हैं। सुधार से सम्बन्धित अध्ययनों में **के० एस० शुक्ला** ने किसी संस्था के भीतर रहने वालों में सुधार सम्बन्धी तथा सुधार प्रशासन सम्बन्धी अध्ययनों को सम्मिलित किया है। अपराधशास्त्र में विचलित व्यवहार, चाहे वह पुरुषों, स्त्रियों अथवा समूहों/समुदायों में क्यों न हो, का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसे समझे बिना व्यवहार में अनुपालन (अनुरूपता) सम्भव नहीं है।

वृद्धजन
(AGED)

किसी भी समाज की जनसंख्या में वृद्धों (प्रौढ़ों, अधेड़ों या वयोवृद्धों) का अनुपात उसके विकास को काफी सीमा तक प्रभावित करता है। सामान्यत: वृद्ध उस व्यक्ति को कहा जाता है जिसने 60 वर्ष की आयु पूरी कर ली है। कुछ विद्वानों ने वृद्धों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है—**युवा वृद्ध** (60 से 75 वर्ष के मध्य) तथा **वृद्ध** (75 वर्ष से अधिक)। पिछले कुछ दशकों में पूरे विश्व में वृद्धों की जनसंख्या तेजी से बढ़ी है। इसका प्रमुख कारण शिशु मृत्यु दर में कमी, चिकित्सा विज्ञानों में प्रगति तथा स्वास्थ्य की देख-रेख में सुधार सम्बन्धी सुविधाओं में वृद्धि है। भारत में भी वृद्धों की औसत आयु बढ़ गई है तथा पिछले कुछ वर्षों के मुकाबले उनका स्वास्थ्य भी बेहतर होता जा रहा है।

2011 ई० की जनगणना के अनुसार भारत में वृद्धों की जनसंख्या लगभग 10 करोड़ (8·2 प्रतिशत) थी। ऐसा अनुमान लगाया जा रहा है कि 2025 ई० में यह बढ़कर 19·8 करोड़ अर्थात् कुल जनसंख्या का 12·0 प्रतिशत हो जाएगी जिनमें से 10·0 प्रतिशत शय्याग्रस्त (Bedridden) होंगे। भारत में वृद्ध लोगों को अब 'वरिष्ठ नागरिक' अथवा 'सीनियर सिटिजन' (Senior citizens) कहा जाने लगा है। भारत में एक ओर जहाँ वृद्धों की संख्या बड़ी तेजी से बढ़ रही है वहीं दूसरी ओर औद्योगीकरण, नगरीकरण, आधुनिकीकरण एवं पश्चिमीकरण से बच्चों में माँ-बाप से जोड़े रखने वाले पुराने संस्कारों की बजाय नई सोच उभरने के कारण वृद्धों की स्थिति दयनीय होती जा रही है। इसीलिए आज प्रत्येक देश में वृद्धों की देख-रेख हेतु सम्बन्धित सरकारें विशेष ध्यान दे रही हैं। भारत में भी सरकार ने वृद्धों की देख-रेख हेतु एक राष्ट्रीय नीति बनाई है। आइए, सबसे पहले वृद्धों की समस्याओं के बारे में जान लें।

भारत में वृद्धों की प्रमुख समस्याएँ

वृद्धों को अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। वृद्ध पुरुषों एवं वृद्ध स्त्रियों की समस्याओं में भी अन्तर पाया जाता है। जहाँ पर हम इनकी समस्याओं का अलग से विवेचन न करते हुए पूरे वर्ग की सामान्य समस्याओं को समझने का ही प्रयास करेंगे। भारत में इनकी प्रमुख समस्याओं को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) पारिवारिक समस्याएँ—वृद्धजनों की सबसे प्रमुख समस्या परिवार में उनके सामंजस्य की है। प्राय: यह देखने में आया है कि परिवार के सदस्यों द्वारा वृद्धों की उचित देखभाल नहीं की जाती है। संचार माध्यमों, अनुसन्धान तथा स्वयं वृद्धजनों में ऐसी धारणा काफी सीमा तक व्याप्त है कि बड़े-बूढ़े अपने परिवारों से कटने लगे हैं। परिवार के सदस्यों द्वारा की जाने वाली उपेक्षा वृद्धजनों की अन्य समस्याओं को कई गुना बढ़ा देती है। अपने सभी होते हुए भी वृद्ध अपने आपको लाचार एवं बेवश समझने लगते हैं। जो वृद्ध महिलाएँ घर के कामकाज में अपने आपको थोड़ा बहुत व्यस्त रखती हैं उनकी तो परिजन देख-रेख करते हैं, परन्तु वृद्ध पुरुषों की परिवार में कोई विशेष भूमिका न होने के कारण उनकी उपेक्षा में काफी वृद्धि हुई है। इस प्रकार, वृद्धों की देख-रेख उनके द्वारा परिवार को दिए जाने वाले योगदान पर निर्भर करने लगी है। अनेक वृद्ध घर के बाहर के कामों में अपने परिवार की सहायता करते हैं। यह सहायता दूध व सब्जियाँ लाने, घर का अन्य सामान लाने, बिजली व पानी इत्यादि के बिल जमा करने तथा बीमें की किश्तें अदा करने के रूप में होती है। इन सबके बावजूद वृद्धों को परिवार में वह सम्मान नहीं मिलता है जिसके वे हकदार होते हैं।

जैसे-जैसे भारत में संयुक्त परिवारों का विघटन होता जा रहा है, वृद्धों की पारिवारिक समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं। देश की जनसंख्या के स्वरूप तथा संस्कृति में होने वाले भारी परिवर्तनों के परिणामस्वरूप वृद्धजनों को अपने परिजनों से वह सहयोग नहीं मिल पा रहा है जिसकी वे उनसे आशा करते हैं। आज अनेक ऐसे वृद्ध हैं जो अनाथाश्रमों जैसी 'वृद्ध संस्थाओं' में रह रहे हैं तथा सन्तान होते हुए भी अपने आपको 'बिना सन्तान' कहने हेतु विवश होते जा रहे हैं। उनके अपने बच्चे उसी शहर में होते हुए भी न तो उनको मिलने आते हैं और न ही उनके बारे में किसी प्रकार की चिन्ता करते हैं। ऐसे वृद्धजन 'वृद्ध संस्थाओं' में जो खाने को मिल जाता है उसी से अपनी सन्तुष्टि कर लेते हैं। ऐसे अनेक वृद्धों में इस प्रकार की भावना विकसित होने लगती है कि सन्तान के होते हुए भी वे 'बिना सन्तान' हैं।

(2) स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ—वृद्धजनों की दूसरी प्रमुख समस्या उनके स्वास्थ्य से सम्बन्धित है। बुढ़ापे में इन्द्रियाँ कमजोर होने के कारण आँखों की नजर घट जाना, जोड़ो में दर्द होना, स्वाद और सूँघने की चेतना कम हो जाना तथा सुनने की शक्ति घट जाना ऐसे ही कुछ सामान्य रोग हैं जिनका शिकार अधिकतर वृद्ध हो जाते हैं। यदि कोई वृद्ध किसी गम्भीर रोग से पीड़ित हो जाता है तो परिजन पैसों की वजह से उसका उचित इलाज भी नहीं करवाते हैं। कई बार तो उन्हें डॉक्टर के पास भी यह कहकर नहीं जाने दिया जाता है कि रोज-रोज फीस देने हेतु उनके पास पैसे नहीं हैं। स्वास्थ्य सुविधाओं में तो वृद्धि हुई है परन्तु उनका इतना अधिक व्यापारीकरण हो गया है कि अनेक चैरिटेबिल अस्पताल भी मरीजों की जेबें काटने में पीछे नहीं हैं। नर्सिंग होम वालों ने तो इसे एक होटल रूपी व्यवसाय ही बना लिया है। मरीजों से मुँहमाँगा कमरों का किराया लिया जाता है तथा उन्हें भारी भरकम किराये वाले कमरों में रहने के लिए यह कहकर विवश किया जाता है कि जनरल वार्ड में तो कोई विस्तर ही खाली नहीं है। ऐसी स्थिति में अनेक परिवार वृद्धों को उचित स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध नहीं करवा पा रहे हैं।

इसीलिए आए दिन की बीमारी से अनेक वृद्ध इतना ऊब जाते हैं कि वे जीवित रहना ही नहीं चाहते। इसीलिए अनेक देशों में 'मृत्यु के अधिकार' की माँग की जाने लगी है अर्थात् यह माँग की जाने लगी है कि जो व्यक्ति जीना नहीं चाहता है उसे मृत्यु का अधिकार उपलब्ध होना चाहिए। इस प्रकार की माँग उन वृद्ध रोगियों की तरफ से अधिक आने लगी है जो जिन्दा होते हुए भी अपने आपको मृतप्राय समझने लगे हैं अथवा जो ऐसे रोगों से पीड़ित हैं जिनका परिणाम अन्ततः कष्टदायक मृत्यु ही है। वे सोचते हैं कि अगर 'मृत्यु का अधिकार' उन्हें मिल जाए तो वह किसी डॉक्टर के पास जाकर अपने कष्टमयी जीवन से मुक्ति हेतु मृत्यु का इंजेक्शन लगवा लेंगे। यद्यपि किसी भी देश में इस प्रकार का अधिकार नहीं दिया गया है और न ही इस प्रकार की माँगों को उचित माना गया है, तथापि यह सोचने का विषय है कि वृद्धजन इस प्रकार का अधिकार क्यों माँग रहे हैं।

(3) आर्थिक समस्याएँ—वृद्धजनों की तीसरी प्रमुख समस्या अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने की है। भारत में 40 प्रतिशत से अधिक वृद्ध निर्धनता रेखा के नीचे अपना जीवन-यापन कर रहे हैं। वृद्धो में विधवाओं की संख्या 55 प्रतिशत है। ऐसा माना जाता है कि वृद्धों की आज सबसे प्रमुख समस्या यह है कि आर्थिक साधनों के अभाव में वे जियें तो कैसे जियें। जीने का डर उनका पीछा नहीं छोड़ता है। पहले वृद्धजन अपने बच्चों को 'बुढ़ापे की लाठी' कहा करते थे। परन्तु अब ऐसा लगता है कि यह लाठी उनको किसी प्रकार का सहारा नहीं दे पा रही है। वे वृद्धावस्था में अपने बच्चों पर पूरी तरह से आश्रित होते हैं। यदि बच्चे बुजुर्गों का उचित ध्यान नहीं रखते तो उनमें अकेलेपन एवं मानसिक डिप्रेशन जैसी बीमारियाँ विकसित होने लगती हैं। वे अपने आपको बेसहारा एवं परिवार में रहते हुए भी बेवश महसूस करने लगते हैं।

वृद्धों के पास आय का कोई साधन नहीं होता है जिससे कि वे स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। इसमें केवल वे वृद्ध अपवाद हैं जिन्हें पेंशन मिलती है। परन्तु उनकी दशा भी बहुत ज्यादा अच्छी नहीं है। जब बच्चे उनकी आवश्यकताओं की ओर किसी प्रकार का ध्यान नहीं देते तो उनमें निराशा विकसित होना एक सामान्य बात बन जाती है। ऐसा देखने में आया है कि जो वृद्ध पेंशन इत्यादि द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम हैं उनसे भी उनके परिजन पेंशन का पैसा छीन लेते हैं और उन्हें वृद्धावस्था में नारकीय जीवन व्यतीत करने के लिए विवश कर देते हैं। वे इसलिए भी विवश हो जाते हैं कि परिवार का कोई विकल्प उनके सामने नहीं होता है। वे इसी बात से सन्तोष कर लेते हैं कि उनकी देखभाल न होने के बावजूद वे अपने परिजनों के साथ ही रह रहे हैं। कम-से-कम पड़ोसी तो यह नहीं सोचेंगे कि उनके बच्चे उनकी देख-रेख नहीं कर रहे हैं। लोक लज्जा उन्हें घर पर रहने तथा सभी प्रकार का कष्ट सहन करने के लिए विवश कर देती है।

(4) सामाजिक एवं सांस्कृतिक सामंजस्य की समस्याएँ—वृद्धों को सामाजिक एवं सांस्कृतिक सामंजस्य की समस्याओं का भी सामना करना पड़ता है। उन्हें बहुधा परिवार में रहने की बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। यह कीमत उन्हें अपने आदर्शों से समझौता करने, अकेले रहने के लिए तथा फुर्सत के समय को भी अपनी इच्छा से व्यतीत न करने के लिए विवश कर देती हैं। सामाजिक एवं सांस्कृतिक सामंजस्य की समस्याओं को निम्नलिखित तीन रूपों में देखा जा सकता है—

(i) अकेलेपन की समस्या—वृद्धों की सबसे प्रमुख समस्या अकेलेपन की है। आयु बढ़ने के साथ ही व्यक्ति में अकेलेपन की भावना घर करने लगती है। ऐसा देखने में आया है कि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होते हुए भी बहुत-से वृद्धजन अकेलेपन के कारण डिप्रेशन का शिकार हो जाते हैं। अनेक अध्ययनों से पता चलता है कि

औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के परिणामस्वरूप भारतीय समाज की परम्परागत संयुक्त परिवार प्रणाली कमजोर हो गई है। इसके फलस्वरूप परिवार तथा समाज के ढाँचे में वृद्धजन अवांछनीय हो गए हैं जिससे उनमें अकेलेपन की भावना विकसित होने लगी है। वृद्धजनों में अकेलेपन का भाव बहुत गहरा होता है क्योंकि हो सकता है कि उनके जीवनसाथी की मृत्यु हो चुकी हो, उनके मित्र किसी दूसरी जगह चले गए हों या मर गए हों, उनके बच्चे किसी दूर के शहर में बस गए हों या वे स्वयं बीमार रहते हों। अकेलेपन का भाव वृद्धजनों में आत्म-सम्मान एवं विश्वास की कमी करता है तथा वे सारा दिन अपनी बदहाली के बारे में सोच कर ही व्यतीत कर देते हैं।

(ii) सामाजिक असुरक्षा की समस्या—प्रत्येक व्यक्ति समाज में तभी अपना काम सुचारु रूप से कर सकता है जब उसे सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध हो। भारत में परम्परागत रूप से संयुक्त परिवार एक ऐसी संस्था मानी जाती रही है जिसका कार्य अपने सदस्यों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना रहा है। संयुक्त परिवार में कोई भी सदस्य, चाहे वह किसी भी आयु वर्ग का क्यों न हो, अपने आप को न तो अकेला मानता है और न ही किसी प्रकार से असुरक्षित महसूस करता है। परन्तु पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण एवं नगरीकरण जैसी बहुआयामी प्रक्रियाओं ने संयुक्त परिवार की संरचना को छिन्न-भिन्न कर दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज संयुक्त परिवार अनेक एकाकी परिवारों में बँटते जा रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति जिसे किसी शहर या औद्योगिक केन्द्र में नौकरी मिल जाती है वह अपनी पत्नी तथा बच्चों को वहीं ले जाता है तथा एक अलग 'एकाकी परिवार' की स्थापना कर लेता है। केवल वृद्ध ही बेवश एवं बेसहारा बच जाते हैं जिनकी देख-रेख करने वाला कोई नहीं होता है। इससे उनमें सामाजिक असुरक्षा की भावना का विकास होने लगता है।

(iii) मनोरंजन सम्बन्धी समस्याएँ—वृद्धजनों की प्रमुख समस्या समय काटने की होती है। अगर पड़ोस में कोई अन्य वृद्ध है अथवा मौहल्ले में चार-पाँच वृद्ध हैं और उनमें आपस में काफी मेल-मिलाप है तो उनका समय सरलता से कट जाता है। यदि वे परिवार में रहने के ही आदी हैं तो उनके सामने सबसे बड़ी समस्या मनोरंजन की है। वृद्धों के लिए मनोरंजन का एकमात्र साधन रेडियो अथवा टेलीविजन है। दिल्ली जैसे महानगर में जब कभी केबिल ऑपरेटर हड़ताल कर देते हैं तो न्यूज चैनलों में अनेक वृद्धजनों को खाली बैठे हुए दिखाया जाता है तथा उनसे साक्षात्कार से यह पता चलता है कि वे टेलीविजन के कार्यक्रम न आने से परेशान हैं तथा उनका समय नहीं कट पा रहा है। टेलीविजन की सुविधा प्रत्येक परिवार में, विशेष रूप से ग्रामीण परिवार में नहीं है। यदि इस प्रकार की सुविधा है भी तो बिजली की किल्लत की समस्या ने टेलीविजन को भी बेकार बना दिया है। जितने समय तक बिजली गुल रहती है उतने समय तक वृद्धजन किसी अन्य मनोरंजन के साधन के अभाव में अपने आपको लाचार एवं असहाय मानने लगते हैं।

(5) मनोवैज्ञानिक सामंजस्य की समस्याएँ—प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक **प्रो० अरुणा बूटा** का कहना है कि दुर्भाग्यवश भारत में वृद्धजनों की समस्याएँ सुलझाने के लिए शोध की दिशा में प्रयास हाल ही में शुरू हुए हैं। वृद्धावस्था और वृद्धों के बारे में समाज में प्रचलित ज्यादातर जानकारी गलत धारणाओं, भ्रामक सोच, भेदभाव, अज्ञानता तथा बूढ़े होने के बारे में व्यक्तिगत भय पर आधारित है। उनके अनुसार समाज के विभिन्न वर्गों में बड़े-बूढ़ों की स्थिति के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। उन्होंने अकेलेपन और मौत के डर को वृद्धों की प्रमुख मनोवैज्ञानिक समस्याएँ माना है। अकेलेपन की विवेचना हम ऊपर कर चुके हैं। यहाँ पर केवल मृत्यु की चिन्ता तथा मानसिक असुरक्षा पर ही निम्न प्रकार से विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे—

(i) मृत्यु की चिन्ता की समस्या—युवावस्था में व्यक्ति को मृत्यु की चिन्ता नहीं होती क्योंकि उसे मृत्यु दूर की चीज दिखाई देती है। इसके विपरीत, वृद्धावस्था में मृत्यु जीवन यात्रा की अनचाही सहयात्री होते हुए भी बहुत करीब लगने लगती है। **कोगन** तथा **वालास** द्वारा किए गए अध्ययनों से यह बात सामने आई है कि सभी आयु वर्गों में वयस्क लोग विभिन्न प्रकार की धारणाओं में से मौत को सबसे घृणित मानते हैं। यद्यपि सभी मौत के बारे में नकारात्मक राय रखते हैं तथापि वृद्धजनों में उसके बारे में बाकी लोगों की तुलना में मृत्यु का डर अधिक होता है। **मुलिवन्स** और **लोपज** के अध्ययन में इस बात के प्रमाण सामने आए हैं कि वृद्ध (75 वर्ष से अधिक) युवावृद्धों (60 से 75 वर्ष के मध्य) की तुलना में मृत्यु से अधिक भयभीत होते हैं। **सिन्हा** ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह बताने का प्रयास किया है कि वृद्धजनों में मौत की चिन्ता उनकी मनोवैज्ञानिक संरचना के कमजोर होने का परिणाम है। **ग्रीन** के अनुसार मौत का भय वृद्धजनों तथा उनके परिवार वालों के लिए सही उपचार तथा सेवाओं के इस्तेमाल में एक बड़ी बाधा है। मौत का भय उन वृद्धजनों में अधिक पाया जाता है जो अपने परिवार के साथ न रहकर सामान्यतया किसी 'वृद्ध संस्था' में रहते हैं।

परन्तु हेल्पेज इण्डिया के महानिदेशक **मेजर जनरल (अवकाश प्राप्त) सूरत सिंह सन्धु** उपर्युक्त विचारधारा से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि आज वृद्धों में सबसे बड़ा डर मौत का नहीं है। यह डर जीवित रहने का है। यदि शीघ्र ही ऐसे उपाय नहीं किए गए तो बहुत कम वृद्ध ऐसे होगें जिन्हें अधिक आयु में अपने जीवित रहने पर गर्व होगा।

(ii) मानसिक असुरक्षा—संयुक्त परिवार के विघटन ने वृद्धों में मानसिक असुरक्षा की भावना को भी विकसित कर दिया है। वृद्धजनों में अकेलेपन एवं पारिवारिक देखभाल के अभाव में डिप्रेशन होना एक सामान्य बात हो गई है। इस डिप्रेशन के कारण वे अनेक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रोगों का शिकार हो जाते हैं। पहले संयुक्त परिवार ही वृद्धजनों को मानसिक सुरक्षा प्रदान करता था परन्तु अब इसके विघटन के परिणामस्वरूप कोई ऐसा विकल्प उनके सामने नहीं है जो उन्हें संयुक्त परिवार जैसी मानसिक सुरक्षा प्रदान कर सके। अभी हाल में ही हुए अनेक अध्ययनों से यह बात स्पष्ट हो गई है कि संयुक्त परिवार में रहने वाले वृद्धजनों में अकेलेपन एवं मानसिक असुरक्षा का अहसास एकाकी परिवार में रह रहे वृद्धजनों के मुकाबले काफी कम होता है। बढ़ते हुए अपराधों ने आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न वृद्धजनों में भी असुरक्षा की भावना को विकसित कर दिया है। दिल्ली जैसे महानगर में अनेक वृद्धों की लूट के इरादे से उनके नौकरों द्वारा ही नृशंस हत्या कर दी जाती है। यदि वे नौकर नहीं रखते तो उन्हें खाने-पीने एवं सफाई इत्यादि की दिक्कतों का सामना करना पड़ता है और यदि वे नौकर रखते हैं तो उन्हें नौकरों से अपने आपको बचाए रखने की समस्या का सामना करना पड़ता है। इस दुविधा में उनका जीवन-यापन असुरक्षित एवं कठिन हो जाता है।

वृद्धों के प्रति सरकारी नीति एवं कार्यक्रम

सर्वप्रथम संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1948 ई० में 'वृद्ध आयु अधिकार' (Old Age Rights) पर एक घोषणा पत्र तैयार किया जो 1969 ई० में आम सभा तथा 1972 ई० में संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक एवं सामाजिक कौन्सिल में रखा गया तथा उस पर विस्तारपूर्वक विचार-विमर्श किया गया। 1982 ई० में 'Vienna International Plan of Action on Ageing' पारित किया गया जिसमें निम्नलिखित सुझाव दिए गए—

(1) स्वास्थ्य एवं पोषण : निर्योग्यताओं और बीमारियों की रोकथाम पर बल दिया जाए।

(2) आर्थिक सुरक्षा : यह सामाजिक सुरक्षा, रोजगार सुविधाओं तथा उपयुक्त परिस्थितियों में परिवारों को सीधी सहायता के रूप में उपलब्ध कराई जाए।

(3) सामाजिक सहभागिता : यह वृद्धों, विशेष रूप से महिलाओं में ऐच्छिक गतिविधियों, अंशकालिक कार्य तथा परस्पर सहयोग के रूप में सुनिश्चित की जाए।

(4) आवास एवं पर्यावरण।

(5) उपभोक्ता संरक्षण।

(6) अनुसन्धान एवं शिक्षा।

1990 ई० में संयुक्त राष्ट्र संघ की आम सभा में 5 अक्टूबर को 'वृद्ध लोगों का अन्तर्राष्ट्रीय दिवस' मनाने की घोषणा की गई। 1991 ई० में संयुक्त राष्ट्र ने वृद्ध लोगों हेतु नियमों पर अपनी सहमति की मोहर लगाई। इन नियमों में भोजन, पानी, आवास तथा वस्त्रों तक पहुँच; स्वास्थ्य रक्षा हेतु सामाजिक एवं कानूनी सेवाएँ, पारिवारिक एवं सामुदायिक सहायता; कार्य करने हेतु अवसरों की उपलब्धता; सम्मान, सुरक्षा एवं बिना शोषण के जीने जैसे अधिकार पर बल दिया गया। इस प्रकार, समय-समय पर संयुक्त राष्ट्र संघ वृद्धों की सुरक्षा हेतु अनेक कदम उठाता रहा है।

भारत में वृद्ध नई पीढ़ी के समाजीकरण तथा उसमें सांस्कृतिक, सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों, ज्ञान व अनुभव को हस्तान्तरित करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते रहे हैं। परन्तु तकनीकी विकास के कारण नवीन पीढ़ी की जीवन पद्धति तथा मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों ने वृद्धों की सामाजिक प्रस्थिति में काफी ह्रास कर दिया है। औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की प्रक्रियाओं ने प्रवसन (देशान्तर) को प्रोत्साहन दिया है तथा इसके परिणामस्वरूप एकाकी परिवारों का तेजी से विस्तार हो रहा है। एकाकी परिवारों में व्यक्तिगत विचारधारा प्रबल होती है। जीने की कीमत में वृद्धि, आवास समस्या तथा भौतिकवादी प्रवृत्ति ने वृद्धों की समस्याओं में और अधिक वृद्धि कर दी है।

उपर्युक्त स्थिति को ध्यान में रखते हुए भारत में भी वृद्धों की सुरक्षा हेतु अनेक सरकारी कदम उठाए गए हैं। 1999 ई० को वृद्धों के लिए राष्ट्रीय नीति की घोषणा की गई है। उनको आय कर अधिनियम में छूट तथा

अनेक अन्य सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। भारत में वृद्धों के प्रति राष्ट्रीय नीति का उद्देश्य समाज में इनको सम्मानपूर्वक स्थान दिलाना है। इसमें वरिष्ठ नागरिकों की आर्थिक सुरक्षा, स्वास्थ्य रक्षा एवं पोषण, आवास, कल्याण तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। इनके जीवन एवं सम्पत्ति की सुरक्षा हेतु भी अनेक प्रावधान किए गए हैं। वृद्धों हेतु 'ओल्ड एज होम्स' तथा 'डे केयर सेन्टर' स्थापित किए गए हैं। परन्तु वृद्धों की समस्याएँ कम होने की बजाय निरन्तर बढ़ती जा रही हैं।

वृद्धों की समस्याओं का समाधान

वृद्धों की समस्याओं के समाधान हेतु निम्न उपाय किए जा सकते हैं—

(1) भारत में संयुक्त परिवार वृद्धों को सामाजिक-आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक संरक्षण प्रदान करता रहा है। इसलिए इसके विघटन को रोका जाना चाहिए। आने वाली पीढ़ी को संयुक्त परिवारों के लाभों की जानकारी दी जानी चाहिए। समय के साथ-साथ संयुक्त परिवार में जो दोष उत्पन्न हो गए हैं उन्हें दूर करने के लिए भी उपाय किए जाने चाहिए।

(2) परम्परागत भारतीय समाज में सामुदायिक जीवन वृद्धों को अपनी किसी समस्या का एहसास नहीं होने देता था। इसलिए सामुदायिक जीवन को प्रोत्साहन देने हेतु उपयुक्त उपाय किए जाएँ। सामुदायिक स्तर पर वृद्धों के लिए मनोरंजन के उचित साधनों का विकास किया जाना चाहिए। हर वर्ग के वृद्धों को उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप स्वस्थ मनोरंजन के साधन उपलब्ध कराए जाने चाहिए।

(3) सरकार को असहाय वृद्धों हेतु 'वृद्ध होम' स्थापित करने चाहिए जिनमें समुचित सुविधाएँ उपलब्ध हों। इनका खर्चा सरकार को स्वयं वहन करना चाहिए तथा गैर-सरकारी संस्थाओं को भी इस प्रकार के वृद्ध होम खोलने तथा उनका संचालन करने हेतु पर्याप्त वित्तीय सहायता दी जानी चाहिए।

(4) वृद्धों की स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं के समाधान का उत्तरदायित्व सरकार को ले लेना चाहिए। वृद्धावस्था में उन्हें निःशुल्क चिकित्सा सुविधाएँ उपलब्ध कराई जानी चाहिए। सरकार को चाहिए कि वह निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले वृद्धों को स्वास्थ्य बीमा कराने हेतु पर्याप्त राशि उपलब्ध कराए।

(5) शिक्षित वृद्धों के अनुभवों का लाभ उठाने हेतु सरकार को ऐसे वृद्धों को प्रौढ़ शिक्षा देने अथवा अन्य ऐसे कार्यक्रमों में व्यस्त रखना चाहिए। उन्हें अंशकालिक रोजगार सुविधाएँ उपलब्ध कराई जानी चाहिए।

(6) वृद्धजनों को यथासम्भव पारिवारिक अथवा परिवार जैसे वातावरण में रखा जाना चाहिए। हाल ही में केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने वृद्ध सदनों और पालनाघरों को मिलाकर एक ही स्थान पर संचालित करने की योजना बनाई है जिससे वृद्धजनों को बच्चों की गतिविधियों का आनन्द मिल सके तथा वे अपना समय सुख से बिता सकें। इससे बच्चों को भी वृद्धों का संरक्षण, प्यार और स्नेह मिल सकेगा। इस प्रकार की अन्य उपयोगी योजनाएँ बनाई जानी चाहिए तथा उन्हें तत्काल लागू किया जाना चाहिए। ●